# पानी की दीवार

( रोचक मनोवैज्ञानिक उपन्यास )

लेखिका

श्रीमती रजनी पनिक्कर

☆

राजहंस प्रकाशन

सदर बाजार, दिल्ली

प्रकाशक :
सुबुद्धिनाथ.
राजहंस प्रकाशन,
सदर बाजार,
दिल्ली ६.

प्रथम संस्करण १९५४
मूल्य तीन रुपये

मुद्रक
अमरचन्द्र, जैन.
राजहंस प्रेस, सदर बाजार
दिल्ली

वात्सल्यमयी माँ को

# भूमिका

श्रीमती रजनी पनिकर से लखनऊ में जब प्रथम बार मेरा परिचय हुआ था तब उनका पहला उपन्यास 'ठोकर' प्रकाशित हो चुका था। किसी भी लेखक की प्रथम कृति से उसकी वास्तविक प्रतिभा का अन्दाज़ा लगाना कठिन होता है; क्योंकि उसकी वह कृति प्रयोग के रूप में ही सामने आती है, फिर भी उस उपन्यास को पढ़ने के बाद मुझे कुछ ऐसा लगा कि श्रीमती रजनी पनिकर में वास्तविक कलाकार की प्रतिभा है।

लखनऊ-रेडियो में रजनी जी से प्रायः नित्य ही सम्पर्क में आने के बाद  के प्रति मेरी धारणा दृढ़ होती गई। एक दिन बात-बात में उन्होंने प्रस्तुत उपन्यास के कथानक की चर्चा की। उस कथानक के ढाँचे को देखकर मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि उस पर एक सफल उपन्यास लिखा जा सकता है। मैंने अविश्वास के भाव से यह कह दिया था, "यदि आप इस कथा-वस्तु पर उपन्यास लिख सकां तो मैं आपको बधाई दूँगा।"

प्रायः तीन वर्ष हो गए इस बात को हुए। दिल्ली आने पर श्रीमती पनिकर से फिर भेंट हुई। उन्होंने मुझसे कहा—"वर्मा जी, मेरा एक उपन्यास छप रहा है, उसकी भूमिका आपको लिखनी पड़ेगी।" उनके इस आग्रह पर मुझे थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ, और उससे अधिक संकोच हुआ। हिन्दी में भूमिका लिखने के लिए एक-से-एक बढ़कर महारथी मौजूद हैं, फिर मुझसे भूमिका लिखने का आग्रह क्यों? पर रजनी जी का आग्रह स्वीकार न करने की मुझमें सामर्थ्य न थी। मैं कटु आलोचक हूँ, रजनी जी इसे जानती हैं। फिर भी उन्होंने छपा हुआ उपन्यास मेरे पास भूमिका लिखने के लिए भेज ही दिया।

'पानी की दीवार' मेरे सामने है, और मैं अभी-अभी उसे आदि से अन्त तक पढ़कर बैठा हूँ। यहाँ मेरा यह कह देना अनुचित न होगा कि हिन्दी के ऐसे बहुत कम उपन्यास मैंने देखे हैं, जिन्हें मैं आद्योपान्त बिना थकावट अनुभव किये पढ़ सकूँ। और अब मेरी समझ में आ रहा है कि श्रीमती रजनी पनिकर ने इस उपन्यास की भूमिका लिखने का मुझसे क्यों आग्रह किया था।

मैं स्पष्टवादी और अप्रिय सत्य कहने वाला भले ही हूँ, पर मैं हठ-धर्मी नहीं हूँ और अपनी गलती को मैं निःसंकोच स्वीकार कर सकता हूँ। 'पानी की दीवार' पढ़ने के बाद मैं श्रीमती रजनी पनिकर को बधाई देता हूँ इस उपन्यास के लिखने पर। उन्होंने यह उपन्यास लिखकर अपने अन्दर वाले कुशल और समर्थ कलाकार का परिचय दिया है।

यह उपन्यास एक ऐसी लड़की की कहानी है, जो अविवाहित है और किसी व्यक्ति के प्रेम में लीन है। लड़की का नाम है नीना नरूला। वह एक पढ़ी लिखी लड़की है, चित्रकार है; और शिमला-कालिज में चित्र-कला सिखाने के लिए नियुक्त होती है। उसका बाल्य-काल का साथी राजकुमार उसका प्रेमी है। राजकुमार से जैसे उसका विवाह निश्चित है, लेकिन राजकुमार विदेश गया है। वह अपनी अनुपस्थिति में भी नीना के जीवन में उपस्थित है, विदेश से उसका नीना के साथ पत्र-व्यवहार चलता है।

नीना जब शिमला पहुँचती है तब उसका परिचय दिलीप चौधरी नाम के एक व्यक्ति से होता है। दिलीप चौधरी शिमला-कालिज में अध्यापक है और प्रधान अध्यापक की अनुपस्थिति में वह प्रधान अध्यापक का काम कर रहा है। दिलीप चौधरी युवक है। वह विवाहित है, उसके बच्चा भी है। लेकिन ऐसा लगता है कि जैसे करुणा—दिलीप की पत्नी और दिलीप दोनों ही विभिन्न विश्वासों के, विभिन्न वर्गों के

प्राणी हों। वैसे उनमें पारस्परिक सौहार्द है, कहीं कोई संघर्ष नहीं है; पर दोनों के मन में कोई निकटता नहीं दिखाई देती। दोनों उस वर्तमान समाज के प्राणी हैं, जो मशीन की भांति काम करते हैं, सामाजिक व्यवहार में पटु हैं, मन की दूरी को या तो समझते नहीं, और अगर समझते हैं तो प्रकट नहीं होने देते। करुणा को जहाँ आमोद-प्रमोद, चहल-पहल, शान-शौकत से प्रेम है वहाँ दिलीप चौधरी एकान्त-प्रिय है, वह एक तरह से कलाकार है, दार्शनिक है।

नीना दिलीप की ओर आकर्षित होती है। राजकुमार की अनुपस्थिति में नीना का दिलीप की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। नीना में सबल व्यक्तित्व नहीं है। कलाकार होते हुए भी नीना प्रकृति से नारी है, दुर्बल और अवलम्ब चाहने वाली। वह सबल व्यक्तित्व की उपासिका है। उससे प्रभावित होती है। दिलीप चौधरी में वैसा ही व्यक्तित्व है। वह धीरे-धीरे दिलीप के प्रेम में पड़ जाती है।

इस प्रेम में दो बाधाएँ हैं, करुणा जो सामने है, राज जो सामने नहीं है। यहाँ यह याद रखना होगा कि नीना का प्रेम शारीरिक स्तर पर नहीं है, वह मानसिक स्तर वाला पवित्र और मर्यादा पर आधारित प्रेम है। उस प्रेम में द्वन्द्व है, भयानक मानसिक संघर्ष है। इस उपन्यास में इसी द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष की कहानी है। इस द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष को अन्त में परिस्थितियाँ स्वतः दूर कर देती हैं और इस प्रकार कहानी पूरी होती है।

'पानी की दीवार' घटना-प्रधान उपन्यास नहीं है, वह एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन का उपन्यास है। और यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी केवल एक लड़की का, जिसका नाम नीना है। दो महीने तक नीना का मनोवैज्ञानिक संघर्ष चला है; उसके बाद नीना फिर वही स्वस्थ और

संयत व्यक्तित्व प्राप्त कर लेती है जिसे लेकर वह दो महीने पहले आई थी। जिन परिस्थितियों में नीना पड़ गई थी उनमें यह मनोवैज्ञानिक संघर्ष उत्पन्न होना ही था। उस मानसिक संघर्ष के परिणाम भिन्न हो सकते थे। लेखिका ने इस उपन्यास में उस मानसिक संघर्ष का जो निदान दिया है पाठक के लिए शायद वही सबसे प्रिय निदान है। दूसरा निदान इस उपन्यास की सुन्दरता को शायद नष्ट भी कर सकता था, वैसे दूसरे निदान तो पाए ही जा सकते थे।

अगर देखा जाय तो इस उपन्यास में केवल दो पात्र हैं, नीना और दिलीप। इन दोनों में प्रमुखता केवल नीना की है, दिलीप की स्थिति तो सम्बन्ध-मात्र की है। इस उपन्यास की कथा नीना के मुख से कहलाई गई है, इसलिए दिलीप के मानसिक द्वन्द्व को जितना नीना देख पाती है उतना ही वर्णन करती है···उससे अधिक वर्णन वह कर ही नहीं सकती। लेखिका अपनी सीमाएँ जानती है, वह वही लिखती है जिसका उसे पता है। वह अनजाने और अपरिचित क्षेत्र में दाखिल नहीं होती। मनोविज्ञान एक कठिन विषय है, उस कठिन विषय को लेखिका ने सतर्क होकर कौशल के साथ निबाहा है। और इसीलिए यह उपन्यास इतना रोचक बन पड़ा है।

नीना के मानसिक द्वन्द्व का एक और आकर्षक चित्र हमारे सामने है, इसे पढ़ते समय हमारी सारी भावना और संवेदना नीना के साथ है। दिलीप के साथ भी हमारी संवेदनाएँ चलती हैं, केवल गौण रूप में। जहाँ तक करुणा और राज का सम्बन्ध है, वे तो इस कहानी को प्राणवान बनाने के साधन-भर हैं, वे चरित्र हमारी संवेदना पाने के लिए हमारे सामने नहीं आते, वे स्थिति की गम्भीरता और जटिलता को ही प्रदर्शित करने के लिए हैं।

नीना का राज के प्रति जो प्रेम है, वह पहले से ही स्वीकृत है। नीना और दिलीप में जो व्यवहार होता है, उसकी प्रतिक्रिया राज के प्रेम में पड़ी हुई नीना के हृदय पर तो होती ही है और उस प्रतिक्रिया के समय राज हमारे सामने प्रकट हो जाता है। यह राज एक सबल व्यक्तित्व का प्रतीक है। उद्दण्ड और कर्मिष्ठ अपने ढंग से आदर्शवादी भी। लेकिन उसका आदर्शवाद दार्शनिक नहीं है, वह प्रवृत्तियों से प्रेरित है। उसके व्यक्तित्व के आगे नीना स्वतः झुक जाती है, वह नीना को अपने में लय कर लेने वाला व्यक्तित्व है।

राज के जिस व्यक्तित्व के इस उपन्यास में जहाँ-तहाँ दर्शन होते हैं, दिलीप का व्यक्तित्व उससे कुछ भिन्न है। दिलीप का व्यक्तित्व भी सबल है, पर वह एक दार्शनिक का व्यक्तित्व है। वहाँ राज की-सी उन्मुक्तता नहीं है···वहाँ परिस्थितियों द्वारा आरोपित एक संकोच है। उस संकोच के साथ नीना को सहानुभूति है, दिलीप के साथ नीना के व्यक्तित्व को अपने अस्तित्व का पता रहता है, उसका व्यक्तित्व कर्म के लिए प्रेरित होता है।

राज के ऐसे सबल व्यक्तित्व से प्रेम करने वाली नीना दिलीप की ओर केवल इसलिए आकर्षित होती है कि राज उसके सामने नहीं है, वह विदेश में है। राज के प्रति उसके प्रेम को छिपाने की क्षमता दिलीप में है, पर यह दिलीप स्वयं बँधा हुआ है। सामाजिक मर्यादाएँ और प्रतिबन्ध ही नीना की रक्षा करते हैं।

लेखिका ने इस उपन्यास में जीवन का बड़ा सुन्दर यथार्थ चित्रण दिया है। और मैं लेखिका को इस उपन्यास पर बधाई देता हूँ।

'पानी की दीवार' को मैं उपन्यास इसलिए कहता हूँ कि लेखिका इसको उपन्यास कहती हैं। और आम तौर पर अन्य लोग भी इसे उपन्यास कहेंगे। वैसे मैं तो इसे एक लम्बी कहानी कहना चाहूँगा। यह एक सफल

और कुशल कला-कृति है, लेकिन मैं इसे महान् कला-कृति नहीं कह सकता। इस पुस्तक में कथावस्तु का अभाव है, मानसिक संघर्षों और परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं से जो मानव-जीवन बनता-बिगड़ता है, मानसिक क्रांतियाँ, जो हमारे आदर्शों को नष्ट कर देती है, जो हमारे जीवन के क्रम को बदल देती हैं, मैं समझता हूँ कि एक महान् और सफल मनोवैज्ञानिक उपन्यास में उन तत्त्वों का होना नितान्त आवश्यक है।

वैसे मैं सोच रहा हूँ कि हिन्दी-साहित्य में महान् मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं ही कहाँ ? जो कुछ भी मनोविज्ञान के नाम पर लिखा गया है, या लिखा जा रहा है वह एक प्रकार की मानसिक अवस्था से प्रेरित होकर लिखा जा रहा है। इधर हाल में मनोवैज्ञानिक गुत्थियों पर लिखे गए उपन्यासों में मुझे न कथा-वस्तु के दर्शन होते हैं और न वास्तविक मनोवैज्ञानिक समस्याओं के। उन उपन्यासों को मनोवैज्ञानिक बाजीगरी का प्रदर्शन ही कहा जा सकता है। जिससे साधारण पाठक को कोई रुचि नहीं।

श्रीमती रजनी पनिकर के इस मनोवैज्ञानिक उपन्यास में कहीं प्रदर्शन नहीं है, और न उनका इस बात का प्रयत्न है कि वे मनोवैज्ञानिक उपन्यास की महान् लेखिका समझी जायँ। अपने निजत्व के प्रचार की विकृति इस उपन्यास में नहीं है। इसमें एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्वस्थता और सात्विकता है; जो सद् है और कल्याणकारी है। मानव की असद् भावना मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है, वह मानव की सद्भावना की प्रतिक्रिया-भर है। प्रतिक्रिया हमेशा से अस्वस्थ होती है और इसलिए मेरा यह मत रहा है कि मानसिक कमजोरियों को आधार बनाकर तथा इन मानसिक कमजोरियों के प्रति इस कद्र संवेदना प्रकट करके आकर्षक बनाने की प्रवृत्ति कि साधारण पाठक में इन कमजोरियों के प्रति मोह पैदा हो जाय, एक अस्वस्थ दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण को प्रतिपादित करने वाला

साहित्य किसी भी हालत में महान हो ही नहीं सकता, मैं तो उसे कुशल और सफल कला-कृति भी मानने को तैयार नहीं।

और इसीलिए मुझे श्रीमती रजनी पनिकर के इस स्वस्थ और सुन्दर मनोवैज्ञानिक उपन्यास को पढ़कर प्रसन्नता के साथ-साथ संतोष भी हुआ कि हिन्दी-साहित्य की चेतना वास्तविक साहित्यिक सृजन के प्रति सजग है।

यह उपन्यास श्रीमती रजनी पनिकर को एक कुशल और सफल उपन्यासकार की हैसियत से स्थापित कर देगा; ऐसा कम-से-कम मेरा विश्वास है।

दिल्ली
२८ मार्च, १९५४

Bhagwati Charan Verma

# एक

मैं अभी कुछ लिखने बैठी ही थी कि दिलीप ने मुझे मोटर के अड्डे से टेलीफोन किया। उसने केवल यही कहा—"नीना, देखो चौंकना मत! मैंने शिमला-कालिज से त्याग-पत्र दे दिया है। कारण तुमसे छिपा नहीं। तुमसे मिलने घर पर नहीं आ पाया। सोचा; शायद तुम्हें बुरा लगे मेरा एकाएक चला जाना, इसलिए टेलीफोन कर रहा हूँ। इस समय अधिक नहीं, फिर कभी। गुड बाई!"

कुछ क्षणों के लिए मुझे लगा, जैसे मेरे शरीर की गति रुक गई हो। सहसा आँखों के सामने अन्धकार-सा आ गया। उसी अवस्था में मैं बहुत देर तक बैठी रही।

दिलीप चला गया है। वही दिलीप, जिससे मिले केवल दो महीने हुए हैं। और पिछले इन्हीं दो महीनों से मेरा जीवन बिलकुल बदल गया है। मेरे पुराने संस्कारों, कल्पनाओं और मेरी नवीन अनुभूतियों में एक मौन युद्ध चल रहा है, जिसमें मेरा कर्तव्य कभी-कभी पुकारकर कहता है, 'नीना, सचेत हो जाओ, तुम मदहोश हो!' मेरी आकांक्षाएँ भृकुटी तानकर

कहती हैं, 'नीना, आखिर तू भी भावना में बह गई।' मैं···मैं अपनी अनुभूतियों का सहारा लेती रही हूँ।)

मेरी लिखने वाली मेज़ पर पड़ी यह छोटी-सी अमरीकन घड़ी यदि बोल पाती तो बतलाती कि मैंने इसकी सुइयों को कितनी बार मिनट से घंटे तक घूमते देखा है। मेरी यह कुर्सी भी अगर बोल पाती तो साक्षी देती कि सन्ध्या के झुटपुटे में इस पर बैठकर दूसरे दिन मैंने ऊषा को आते देखा है। मेरे इस कमरे में दो बड़ी सुन्दर खिड़कियाँ हैं। खिड़की से झाँकने में जो सन्तोष मिलता है वह शायद अपने मन की गहनतम गहराइयों में झाँकने से भी नहीं मिलता। इन्हीं खुली खिड़कियों में से मैं दिन को उजले-काले बादल देखा करती हूँ। दूर—सुदूर आकाश से मिले हुए भूरे पहाड़, जो सुना है बरसात में हरे-हरे लगते हैं। साथ ही देखती हूँ रेल की सड़क, बल खाती हुई, पहाड़ों का कलेजा चीरती हुई स्टेशन के पास आकर समाप्त हो जाती है; और स्टेशन पर दिन-रात धुआँ निकला करता है। सब-कुछ आस-पास काला-ही-काला है।

इस समय मेरी चिर-प्रिय सन्ध्या है—सुन्दर-सी, सिमटी-सी, दबी, कोमल-सी, पायल की झंकार-सी। दूर पहाड़ों के पीछे अस्त होता हुआ सूर्य···एकदम लाल हो रहा है···। जहाँ सन्ध्या एक कोमल बालिका-सी सिमटी खड़ी है वहाँ यह लाल-लाल सूर्य एक छः फीट लम्बे सिंदूरी रंग के तेजस्वी पुरुष की तरह लगता है, मानो वह आजादी और प्रकाश की मशाल जलाए निशा के अन्धकार को बल पूर्वक रोककर खड़ा हो। नीचे पृथ्वी पर रहने वालों को यह एक सन्देश देता है कि अस्त होने से पूर्व उनके जीवन में एक बार प्रकाश अवश्य आयगा।

हाँ, तो मैं केवल अपनी बात कह रही थी, बीच में सन्ध्या आ गई। मेरी बात केवल दिलीप और राजकुमार को लेकर है। उसके पीछे मेरे उस समाज की पृष्ठभूमि है, जिसमें बहुत-सी मक्खियाँ भिनभिनाती हैं और बहुत-से कीड़े रेंगते हैं। इनसे घिरी मैं कभी-कभी घृणा से भर जाती हूँ और कभी-कभी चिन्ता से। मुझे अपनी स्थिति पर हँसना नहीं आता—जैसे कि बहुत-से दार्शनिक कहते हैं, 'प्रत्येक स्थिति में हँसना चाहिए।'

मैं किसी फ़िल्म या उपन्यास की नायिका नहीं हूँ, दिलीप भी नायक नहीं है, और न वह मेरा आत्मीय या सम्बन्धी है। वह तो केवल एक मेरा परिचित है, जो जीवन का एक अंग बन गया है। राजकुमार भी तो मेरे जीवन का अंग है। यह सामने के पहाड़ पर कुलियों का काफ़िला जा रहा है। दिन-भर का थका-माँदा वह घर को ओर बढ़ रहा है संकीर्ण-सी पगडंडी पर, सोच-समझकर धीरे-धीरे भारी-भारी पग रखता हुआ। इनके झुके कन्धों ने न जाने कितना बाझ उठाया होगा। क्या मैं इस बात से इन्कार कर सकती हूँ कि यह कुली—और समाज के इन-जैसे असंख्य सदस्य, क्या आज मेरे जीवन का अंग नहीं बने। दिलीप को मैं उस समय मिली जिस समय मैं जीवन को समझने लगी थी; और राजकुमार को उस समय, जब कि मैं बिलकुल अबोध थी।

एक दिन राज ने कहा था—'हम-तुम आज से दोस्त; क्यों नीना, आओ हाथ मिलाओ!'

मैं तब बहुत छोटी थी, किन्तु मुझे सब याद है। मैंने उस समय झिझकते हुए हाथ बढ़ा दिया था। तभी किसी ने नेपथ्य में छींक दिया था, जिसे सुनकर राज बहुत झुँझलाया था, और उसने मुझे एक तमाचा मारा था। मेरा मन कह रहा था—'यह कैसी दोस्ती ?'

तब राज ने मेरा गाल सहलाकर कहा था—'अरी पगली, यही मेरी दोस्ती है। सुना, अब मेरा स्कूल खुल गया है, मैं देहरादून जा रहा हूँ। आती बार ढेरों चाकलेट, लाल रिबन और लाल चूड़ियाँ लाऊँगा।'

तब मैं अपनी चोट भूल गई थी और मेरी आँखें चमकने लगी थीं। राज ने कहा था—'नीना, तू मुझे याद करेगी ?' मैंने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा था। राज की आयु उस समय १३ वर्ष की थी। मेरी छः से ज्यादा न होगी।

'मुझे लौटने पर कैसे पता चलेगा कि तूने मुझे याद किया है ? समझी कुछ ?'

उस समय मैं कुछ भी न समझी थी। मैंने सरलता से उत्तर दिया था—'नहीं समझी।'

'तुम इतना भी नहीं समझीं नीना ! पर जब मैं बहुत बड़ा अफसर बनूँगा तब तुम मुझे क्या समझोगी ?'

'क्यों, मैं बड़े अफसरों को खूबी से समझती हूँ, पिताजी को काम से आते ही शराब चाहिए। यही न ?'

राज ने मेरे बाल खींचकर कहा था—'तुम बुद्धू हो।'

'यह बात है तो मैं तुम्हें याद नहीं करूँगी।'

राजकुमार ने किसी अँगरेजी फ़िल्म के नायक की नकल करते हुए कहा था—'देखो नीना ! तुम एक अच्छी लड़की

हो, एक दिन रानी बनोगी, मेरी रानी ! तुम्हें मुझे याद करना होगा !'

'याद करना होगा ?' मैंने डरते-डरते पूछा था। तब मुझे इसका भान भी न था कि भविष्य में क्या होने वाला है।

'हाँ, याद करना होगा। बागीचे के पिछवाड़े में जो दीवार बनी है उस पर चाकू से लकीरें खींचनी होंगी और मैं आकर उन्हें गिन लूँगा।'

'अगर किसी दिन न खींची, तो दोस्ती टूट जायगी क्या ?'

'दोस्ती अब टूटने की नहीं, तुम पिटोगी, मैं तुम्हें मारूँगा, गला घोटूँगा, चाकलेट भंगिन की लड़की को दे दूँगा। रिबन से गुलेल बाँधूँगा और चूड़ियाँ फोड़ डालूँगा, समझीं !'

'जा···जा मत लाना कुछ, बड़ा आया है लाने वाला। मैं जा रही हूँ, माँ बुला रही होंगी।'

'अच्छा ! जाने से पहले हाथ बढ़ाओ, एक बार दोस्ती और पक्की हो जाय।'

मैंने हाथ मिलाया और घर के भीतर भाग गई। तब तक मैं स्कूल में भर्ती नहीं हुई थी। यह मित्रता की नींव रखने के बाद मैं स्कूल गई, और फिर कालिज। दीवार पर लकीर खींचते-खींचते केनवस पर चित्र बनाने लगी। राज जब कभी बाहर जाता, तो सदैव चाकलेट, चूड़ियाँ और लाल रंग का स्कार्फ, चुनरी या साड़ी लाता रहा।

जब देश का विभाजन हुआ तो घर के अन्य सब लोग दिल्ली आ गए। मैं भी दिल्ली आ गई और गोपाल स्कूल ऑफ आर्ट्स में पढ़ाने लगी। केवल दो घंटेके लिए जाती थी, बाकी समय घर पर रहती। बचपन से ही मैं कुछ ऐसा अनुभव करती थी कि मेरे घर वाले मेरे अपने नहीं। इसका कारण मैंने न तब जाना था और न अब ही जान पाई हूँ।

जब से मैं बड़ी हुई, तभी से घर में काना-फूसी शुरू हो गई थी। मानो यह चढ़ता हुआ कद, या खुलता हुआ रंग मेरे गुण न होते हुए दोष हों। पिताजी माँ के साथ आँख मिलाकर बात करने से कतराते थे। भाइयों की दृष्टि स्नेह-हीन थी, और भाभियों की अर्थपूर्ण। इस सबसे मेरे मन में हलचल पैदा हो जाती, साँस घुटती, मन विद्रोह कर उठता। जी चाहता जल्दी-से-जल्दी कहीं भाग जाऊँ।

शिमला-कालिज से नियुक्ति-पत्र पाते ही मैं दिल्ली से चल पड़ी थी। शिमला पहुँचते ही मैंने एक होटल में सामान रखा और कालिज पहुँची। कालिज सूना-सूना लग रहा था, शायद छुट्टी थी। मैं वापस जाने की सोच ही रही थी कि देखा एक व्यक्ति प्रिन्सिपल के कमरे में से झाँक रहा है। हो सकता है खिड़की और सामने वाले पहाड़ के बीच जो खाई है उसको वह देख रहा हो।

मैं भी अनायास उसकी ओर बढ़ी।

"मैं अन्दर आ सकती हूँ।" मैंने झिझकते हुए पूछा।

"हाँ-हाँ, आइये बैठिये, मुझे दिलीप कहते हैं, यहाँ अँगरेजी पढ़ाता हूँ। आज प्रिन्सिपल महोदय दिल्ली गए हैं तो मैं उनका काम भी देख रहा हूँ।" सब एक साँस में कहकर दिलीप चुप हो गया।

"मैं नीना नरूला हूँ, यहाँ चित्र-कला सिखलाने के लिए नियुक्त हुई हूँ।"

दिलीप ने मुझे सिर से पाँव तक देखा और कहा—"मैं देखते ही समझ गया था।"

मुझे एक क्षण के लिए कुछ अटपटा-सा लगा, यह व्यक्ति भी कैसा है? नारी के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है। 'मैं देखते ही समझ गया था।'

(मैंने जरा ध्यान से दिलीप की ओर देखा, वह चाकलेट रंग का सूट पहने था, बाल अधिक लम्बे न थे, जो बीच में से काढ़े हुए थे, आँखें बहुत बड़ी-बड़ी और करुणापूर्ण। मैंने इन आँखों को कहीं देखा है, यह मेरी पूर्व परिचित हैं। ओह! यह तो राजकुमार की आँखें हैं। मुझे घबराहट के मारे पसीना आ गया।)

दिलीप ने सिगरेट का एक लम्बा कश खींचते हुए कहा—"मैं सिगरेट पीता हूँ? बिना सिगरेट पिये बातचीत न कर सकूँगा।"

धुएँ से नफ़रत होते हुए भी मैंने कह दिया—"जरूर पीजिए, मुझे धुएँ से नफ़रत नहीं, वास्तव में यहाँ सर्दी बहुत है।"

दिलीप ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने केवल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखा। उसके ओठों की सिकुड़न कह रही थी, 'यह बात तुमने नई नहीं कही नीना !'

मुझे लग रहा था, इस दिलीप के मिजाज मामूली नहीं, अपने को बहुत-कुछ समझता है यह शायद।

सभ्यतावश दिलीप ने पूछा—"आपको रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई थी ?"

"जी नहीं, तकलीफ़ तो नहीं हुई ; लेकिन पहाड़ी रास्ते में मोटर पर आने से मेरा जी मिचलाता था। मैंने अपना ध्यान बरबस प्रकृति के सौन्दर्य को देखने की ओर लगा दिया था, जिससे मन बहला रहे।"

पहली बार दिलीप मुस्कराया। मुझे लगा मेरा मन हल्का-हल्का हो गया है, जैसे फुहार के बाद सावन का बादल।

दिलीप और राज, राज और दिलीप। राजकुमार के बाल भी ऐसे ही थे, वह ऐसे ही काढ़ा करता था, उसके बालों की लड़कियाँ बड़ी चर्चा किया करती थीं। दिलीप मुस्करा भी उसी भाँति रहा था। वह राज से अधिक लम्बा और साँवला है।

दिलीप ने दो कप कॉफी लाने का आर्डर दिया। कॉफी शायद साथ वाले कमरे में बन रही थी। दिलीप के कहने की देर थी कि चपरासी दो कप कॉफी दे गया। मैं दिलीप की ओर बड़े ध्यान से देख रही थी।

दिलीप मुझे ऐसा लग रहा था मानो किसी अँगरेज़ी उपन्यास में चित्रित नायक हो। मैंने बहुत दिन पहले एक उपन्यास पढ़ा था, जिसका नायक इसी तरह एक पहाड़ी शहर

में सुन्दर बँगले की एक आधुनिक ढंग की खिड़की में से बाहर देख रहा था। हाथ में सिगरेट भी थी उसके, जैसी पुस्तक वाले नायक के हाथ में। कमरे में बैठी लड़की उससे मिलने आई थी। मेरे मन के किसी कोमल स्थल को यह दृश्य छू गया (मेरे मन के ही किसी कोने ने कहा—'दिलीप बहुत अच्छा है।')

"मिस नरूला''''आप क्षमा कीजिएगा, मुझे अधिक बात-चीत करने की आदत नहीं है, मैं इसीलिए बोल नहीं पाता हूँ। आप जाने अपने मन में क्या समझती होंगी कि यह कैसा व्यक्ति है?"

मैं मुस्करा दी।

"अभी तक तो जैसा मैंने समझा है, बहुत अच्छा समझा है।"

दिलीप ने कहकहा लगाया। मुझे लगा, जैसे यह कहकहा दूर किसी पहाड़ से टकराकर मेरे शरीर को झनझना रहा हो।

"ओह! आप तो बहुत दिलचस्प मालूम होती हैं।"

मैं हैरान होकर दिलीप के मुख की ओर देख रही थी। मैंने सोचा, 'तो क्या इसे भी मैं दिलचस्प लग रही हूँ।'

"यहाँ पर घर मिलना आसान होगा क्या?"

"हाँ, आपके लिए मैनेजर साहब ने तीन कमरे का एक फ़्लैट मेरे पड़ौस में ही ले रखा है।"

इसके पड़ोस में घर है तो खतरे से खाली नहीं। क्या मेरे जीवन में फिर मोड़ आने वाला है? पहले ही क्या कम घटना-पूर्ण है यह जीवन। राज कहा करता था—'जीवन एक चौराहा

है नीना ! जहाँ हम सिपाही की तरह खड़े रहते हैं। घटनाएँ आती हैं और चली जाती हैं।'

"मैं कब से काम शुरू करूँ ?"

"आज रविवार है, कालिज में छुट्टी है। तो आप परसों से काम शुरू कीजिएगा। चलिये, मैं आपको घर दिखा दूँ। थक गई होंगी आप !"

मैं कृतज्ञता से भर उठी। एक ओर तो यह इतना कम बोलता है और दूसरी ओर...

(उस रात जब मैं सोई तो मन में यह तर्क चलता ही रहा। यह दिलीप इतना गर्वीला क्यों है ? बात करता है तो मानो तोल रहा है, यह बात कहे या न कहे। बात करके उसका प्रभाव देखता है। मैं इसी तर्क-वितर्क में न जाने कब सो गई।)

# दो

ठीक मेरी बाईं ओर दिलीप चौधरी का फ़्लैट है, उसमें चार कमरे हैं। दिलीप की पत्नी करुणा, गोरे रंग की, भूरी-भूरी आँखों वाली, भरा-भरा शरीर। करुणा मुझे दूसरे दिन सवेरे ही मिलने आई थी। उसे दिलीप ने भेजा था। वह मुस्कराती हुई आई, और मुस्कराती हुई चली गई। घर में कौन चीज़ कहाँ रखनी है, यह सब बता गई।

दिलीप की पत्नी। पहले तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। कल बातचीत के सिलसिले में दिलीप ने एक बार भी नहीं कहा कि मेरी पत्नी है, मेरा बच्चा है। मेरा घर भरा-पूरा है। ख़ैर, मैंने बिस्तर से उठकर काम करना शुरू किया।

तीनों कमरों को घूम-फिरकर देखा। बहुत सुन्दर फ़्लैट। प्रत्येक में दो-तीन खिड़कियाँ, शीशों से मढ़ी। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि घर में टेलीफ़ोन भी है। पीछे चलकर पता चला कि यहाँ टेलीफ़ोन प्रायः सभी घरों में है। गरम पानी और ठण्डे पानी का नल भी है। मैं अपने साथ अधिक वस्तुएँ

तो लाई न थी। जो चित्र मैंने बनाये थे, लाहौर में रह गए थे। जो दिल्ली पहुँचकर बनाए थे, वे बेच दिए थे। मुझे अपने पर ग्लानि हो रही थी—अभी-अभी करुणा कहकर गई थी, "नीनाजी, आप तो चित्र-कला दिखलायँगी। आपके पास तो बहुत-से चित्र होंगे, जिन्हें आप दीवारों पर लटका देंगी—ये दीवारें खिल उठेंगी—यह फ्लैट मुस्करा उठेगा। सचमुच ही मैं प्रसन्न हूँ जो आप-जैसी कलाकार से परिचय हुआ।"

करुणा बड़ी वाचाल है। मैं उसकी बातें सुनती रही। 'कलाकार में सृजन-शक्ति होती है, क्या हुआ यदि मेरे पास चित्र नहीं हैं' 'मैं बहुत जल्द ही नये बना लूँगी।' मैं अपने साथ रंगों की ट्यूब्स, कैनवस और कुछ पुस्तकें लेती आई थी। मुझे यह खयाल था शिमला पहाड़ है, शायद वहाँ रंग न मिलते हों।

मैंने देखा, शिमला की सुबह बड़ी सुहावनी थी। सूर्य के प्रकाश से दूर पहाड़ों की चोटियाँ चमक रही थीं, जिन्हें देखकर मन में नई आशा का उदय हुआ।

मेरे मन को एक हल्की-सी चोट लगी थी—चोट कहना तो ठीक नहीं। कुछ ऐसा ही अनुभव हुआ था, करुणा जिस समय मुझसे मिलने आई थी। करुणा थी भरी-भरी, जैसे सब उसके पास हो; और मैं' 'बिलकुल रिक्त। नहीं-नहीं, रिक्त क्यों, मेरा राजकुमार जो था मन में।

मैंने धूप में खिली पहाड़ियाँ देखीं तो मुझे नीले रंग का फ्लैनेल का गरम, सोने वाला सिलवार और कुर्ता भद्दा लगा। मैंने झट से स्नान करके कपड़े बदल डाले। अभी मैं पूरी तरह से तैयार भी न हो पाई थी कि नौकर ने बताया, "दिलीप

आया है।"

न जाने मेरे हाथ फुर्ती से क्यों चलने लगे। मैंने लिपस्टिक उठाई, ओठों पर लगाई और फिर पोंछ डाली। सवेरे जब करुणा आई थी तो उसके ओठों पर लिपस्टिक लगी थी। मैंने काजल भी धो डाला। बाल अभी बने ही न थे। मैं बाहर आ गई। दिलीप के मुँह में सिगरेट थी। वह मुस्कराया, पर उसकी मुस्कान पर गर्व की मुहर लगी हुई थी, "कहिए, मिस नरुला! रात को ठीक तरह से सोईं न?"

"जी, धन्यवाद है आपका!"

दिलीप फिर मुस्करा दिया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें भी मुस्करा पड़ीं। मैं उन आँखों में खो गई। राजकुमार की भी बड़ी-बड़ी आँखें बिलकुल ऐसी ही हैं।

मेरा नौकर चाय दे गया। मैं सँभल चुकी थी।

"मकान आपको पसन्द आया?"

"जी, सुन्दर है।"

"क्या आपको केवल सुन्दर वस्तुएँ ही पसन्द हैं?"

मैं चौंक पड़ी।

यही प्रश्न आज से बहुत वर्ष पहले काश्मीर के निशात बाग में हरी-हरी घास पर बिछी एक बैंच पर बैठे हुए राजकुमार ने पूछा था। तब मैंने कहा था—'नहीं, सुन्दर-असुन्दर तो अपनी मनोवृत्तियों पर निर्भर है। तुम्हें ही राज, मैं सुन्दर कह सकती हूँ। क्यों, कहती नहीं हूँ? शायद दूसरे ऐसा न कहें....क्योंकि तुम सुन्दर नहीं हो।'

उस समय राजकुमार ने हँसकर कहा था—'तुम पागल हो नीना ! पुरुष वह सुन्दर होता है जो एक सुन्दर नारी को अपनी ओर आकर्षित करके उसे चिर-काल तक अपने आकर्षण में बाँध रखने की शक्ति रखता हो।'

मैंने बात को बीच ही में काट दिया था—'राज, आगे कहने से पहले तुम बतला सकते हो कि सुन्दर नारी कैसी होती है ?'

'सुन्दरता की मेरी अपनी परिभाषा है नीना ! मैं उसी पर अटल रहता हूँ। यानी, नारी वही सुन्दर है जो आग है बर्फ नहीं, जिसे देखते ही पुरुष का पुरुषत्व जाग उठे और वह नारीमय हो जाय।'

'मैंने तो ऐसी कोई नारी नहीं देखी···राज ?'

'मैंने तो देखी है···कुमारी नीना नरूला !'

'बस-बस, फिर वही चापलूसी ?'

'नहीं नीना, यह तुम्हें चापलूसी लगती है···मेरे मन का दर्द····!····'

मैंने हँसकर कहा था—'हर एक दर्द की दवा अमृत-धारा है।'

"क्या सोचने लगीं आप ?" दिलीप पूछ रहा था।

"कुछ नहीं।"

"सफर की थकान तो अब दूर हो गई होगी ?"

"जी।"

"तो चलिए, आपको घुमा लाऊँ।"

"करुणा जी नहीं चलेंगी क्या ?"

"करुणा तो आज अपने पिता के यहाँ गई है, वहाँ से कितने ही दिन से खबर आ रही थी। आज आपके यहाँ से गई ही थी कि टेलीफ़ोन आ गया। वह खाना आदि भी वहीं खायगी।"

मैं देख रही थी दिलीप कैसे बिना किसी प्रकार की झिझक के यह सब बात कर रहा है, मानो पत्नी के पिता उसके कुछ लगते ही न हों। ठीक तो है, यदि वास्तव में देखा जाय तो वे इसके क्या लगते हैं। फिर भी उनके घर यह नहीं जाता। मैं पूछना चाहती थी...पर इतनी निजी बात कैसे पूछ सकती हूँ, यह सोचकर मैं चुप रह गई।

मुझे मौन देखकर दिलीप स्वयं बोल उठा—"आप शायद सोच रही हैं, मैं इतनी-सी बात को सहज भाव से कह गया। ठीक है, मेरा मन उनके घर पर घुटता है, मैं वहाँ ज्यादा देर तक नहीं बैठ पाता। कई बार प्रयत्न किया है, पर वहाँ का वातावरण कुछ ऐसा है कि मुझे वापिस आ जाना पड़ता है। सब कृत्रिम प्रदर्शन।"

मैं अवाक् थी।

"मुझे केवल सरलता पसन्द है।"

मैं फिर भी केवल मुस्कराकर रह गई।

उसने यह नहीं पूछा कि मुझे क्या पसन्द है।

"तो आप चल रही हैं, या मैं अकेला ही जाऊँ ?"

"नहीं, चल रही हूँ।" मैं न जाने किस मंत्र के प्रभाव में आ गई थी। उसके साथ जाने के लिए मैं भीतर से जूता पहन आई।

घर पर जब भी मैं कहीं बाहर जाने लगती थी तो माँ यही कहती थी…'कहाँ जा रही हो नीना ?'

'कहीं नहीं माँ,…जरा अलका के साथ घूमने जा रही हूँ।'

'हुँ :…जब देखो तब बाहर…,जब देखो तब बाहर !'

'माँ, घर पर बैठकर भी मैं क्या करूँ ?'

'दूसरों की लड़कियाँ क्या करती हैं ? जो वह करती हैं वही तुम भी करो !'

'माँ, मुझसे घर पर नहीं बैठा जा सकता।'

'तुम्हारी भाभियाँ भी कह रही थीं…नीना आपके हाथ से निकलती जा रही है। अभी समय है यदि आप काबू में रख लें तो।'

'और आज मैं दिलीप के साथ सैर को जा रही हूँ।…उसी दिलीप के साथ…जिसका मेरा परिचय केवल एक दिन का है।

दिलीप पूछ रहा था—"आप लम्बी सैर से घबरायँगी तो नहीं ?"

"नहीं।"

किन्तु मैं मन-ही-मन डर रही थी—'…जाने कहाँ ले जायगा।'

"मिस नरूला, आप चित्रकार हैं। चलिये, आपको शिमला का वह सुन्दर रास्ता दिखलाऊँ, जो विशेष तौर पर प्रेमियों के लिए बना है।"

मैं दिलीप की ओर न देख सकी। हम लोग अपने घर के पिछवाड़े से एक पगडंडी पर चढ़ने लगे।

दिलीप आगे-आगे चल रहा था। सभ्यता का तकाजा था....वह मुझे आगे चलने के लिए कहता। पर उसने नहीं कहा। शिमला में यह मेरी पहली सैर थी....पहला दिन, वह भी दिलीप के साथ, जो मेरे राजकुमार से इतना मिलता है। मैं सोच रही थी, 'यह मुझे प्रेमियों की गली में क्यों लिये जा रहा है?'

"मिस नरूला, यह देवदारुओं से घिरा रास्ता देखा आपने? चित्रकार से कवि बना देने वाले दृश्य! मुझे तो लगता है कालिदास ने अपनी रचनाएँ यहीं बैठकर लिखी होंगी।"

मैं हँस पड़ी थी। नहीं, खिलखिला पड़ी थी। और दिलीप मेरी ओर देख रहा था।

"यह लीजिए, हमारी सड़क आ गई।"

"इतनी जल्दी?"

"हाँ, आप शायद विचारों में खोई हुई थीं। देखी आपने नीनाजी, कैसी सुन्दर जगह है। बतलाइये, मैं करुणा के साथ उस माल रोड पर बने हुए उस छोटे-से तिमंजिले मकान में क्या करता जाकर, मुझे सीमा में बँधना इतना अच्छा नहीं लगता।"

"और मुझे भी।" मैंने धीरे से कहा। फिर मैं पूछे बिना

न रह सकी"..."करुणा बहन को यह बुरा तो लगता होगा कि आप उसके पिता के घर नहीं जाते।"

दिलीप एक क्षण चुप रहकर बोला—"हाँ, उसे बुरा लगता है, यह तो स्वाभाविक है। मैं उसे इसके लिए दोष नहीं देता हूँ। प्रत्येक नारी को शायद इस स्थिति में बुरा लगे।"

"नहीं, आप संसार की सब नारियों की ओर से तो नहीं बोल रहे। संसार में तो भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग हैं। शायद मैं उनकी स्थिति में होऊँ तो मुझे बुरा न लगे।"

दिलीप मेरे मुख की ओर देखता रहा। मुझे लगा, मैं बहुत जल्दी यह बात कह गई। बिलकुल निजी बात। दिलीप ने इस पर कोई प्रश्न नहीं पूछा। वह चुप हो गया। मैं भी नहीं बोली। हम लोग चलने लगे। मैं अपने दाएँ-बाएँ देख रही थी। रास्ता बहुत छोटा था, जो चारों ओर देवदारुओं से घिरा था। सवेरे के ग्यारह बजे के लगभग का समय होगा... ऐसी लग रहा था, मानो सन्ध्या हो गई हो। इतने में हम घाटी के उस भाग में पहुँचे, जो खुला था। देवदारु के वृक्ष इधर-उधर बिखरे पड़े थे, जिनमें से सूर्य का प्रकाश छनकर आ रहा था। वहीं हरे रंग की लकड़ी की एक बैंच पड़ी थी। उसी पर हम लोग बैठ गए। बैठने के लिए न दिलीप ने कहा,...न मैंने। जैसे यह समझौता-सा हो चुका हो कि बैठना तो हमें है ही।

"क्या सोच रही हैं आप ?"

"कुछ नहीं।"

"शायद यहाँ आकर चित्र बनायँगी।"

"यहाँ आकर चित्र बनाना तो वास्तव में अच्छा रहेगा... परन्तु अकेले यहाँ आकर इतनी देर तक बैठना जरा मुश्किल

है। देखूँगी...अभी कौन-सी जल्दी है।"

हाँ, दिलीप इसके उपरान्त नहीं बोला। मैंने स्वयं भी बोलना उचित नहीं समझा था। मैं सैर करने तो चली आई थी, परन्तु मेरे मन में भय तो बना हुआ था, 'दिलीप से नहीं....वैसे ही एकान्त में एक अपरिचित पुरुष से। पिताजी देखें तो माँ की आँखों का सामना बिलकुल न कर पायँ। माँ देखे तो शायद झल्ला पड़ें, या सिर धुन लें।'

देवदारु के वृक्षों से साँय-साँय की ध्वनि आ रही थी... कोई उधर से आ-जा नहीं रहा था।

ऐसी ही एक रात को, जब साँय-साँय की आवाज़ आ रही थी, हम लोग अपने गाँव गये थे।...राजकुमार और मेरे पिता का गाँव एक ही था। खेत एक-दूसरे के साथ सटे थे। उस वर्ष फसल अच्छी हुई थी। राज कुमार ने मुझसे कहा था '...तुम आज रात को हमारे गेहूँ के खेत में आग लगाओगी।'

मैंने भयभीत होकर पूछा था, '....क्या?'

'कुछ नहीं, सिर्फ यही कि तुम आज रात को हमारे खेत में आग लगाओ। रात को ठीक दस बजे यहाँ पहुँच जाना, मैं पैट्रोल छिड़ककर तैयार रखूँगा, मशाल लेकर आना और चुपके-से खेत में छोड़ देना।'

'नहीं राज, यह मुझसे नहीं हो सकेगा...तुम और चाहे जो करवा लो, पर यह तो पाप है।'

'पाप की नानी''''क्या पाप है, क्या पुण्य है, जो तू अभी से सीख रही है।'

'चल-चल बातें मत बना।' मेरी आँखों में आँसू आ गए।

'उफ़, यह लड़की है या खिलौना! रोती क्यों हो, मैं मरा नहीं जा रहा हूँ। हाँ, देखो तुम्हारा गला घोंट दूँगा, अगर किसी को कानों-कान खबर हुई तो।'

मैं उस दिन डरती रही, दिन-भर घबराती रही, कुछ खाया भी नहीं गया था। माँ बोली थीं—'क्या हुआ री, मैं कहती-कहती हार जाती हूँ, पर तुम मानती कहाँ हो'''इन खेतों में मत घूमा करो। शहर के रहने वाले तभी तो गाँव में आकर बीमार हो जाते हैं।'

उस दिन रात को पिताजी के खाने के उपरान्त मैं राजकुमार के पास निश्चित स्थान पर पहुँची, और काँपते हाथों से खेत में आग लगा दी थी। हवा बहुत तेज़ चल रही थी। राजकुमार ने उस समय मुझसे कुछ नहीं कहा, केवल हाथ दबा दिया था। खेत क्यों जलवाया गया इसका रहस्य मुझे अब तक न मालूम हुआ।

"नीना जी, चलिये देर हो रही है अब।"

मैं चौंक पड़ी।

"क्षमा कीजियेगा'''मैंने सुना ही नहीं, आप न जाने कब से कह रहे हैं।"

हम दोनों बिना बातचीत किये घर लौट आए। दिलीप अपने घर चला गया। मैं शिमला में पहला दिन होने से बहुत थक चुकी थी, मेरा जी चाहता था जैसे-तैसे सो जाऊँ।

मैंने उस दिन खाया-पिया भी नहीं····। सोई रही देर तक, सन्ध्या को जब तक करुणा ने जगाया नहीं आकर मुझको। वह देर तक बैठी बातें करती रही। उसके मुख पर इस बात के लिए बिलकुल दुःख या शोक का कोई चिह्न नहीं था कि दिलीप आज उसकी माँ के घर नहीं गया। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि सुबह वह जो मुझे लेकर सैर को गया था वह भी करुणा से छिपाया नहीं गया। करुणा ने हँसकर कहा था, "मैं बहुत खुश हूँ···आखिर इनको कोई तो ऐसा व्यक्ति पसन्द आया जिसे अपने साथ सैर के लिए ले जायँ।"

मैं हैरान रह गई थी, "परन्तु····" मैंने पूछ ही तो लिया— "आप नहीं जातीं, उनके साथ घूमने ?"

"नहीं, वह जहाँ घूमने जाते हैं, मुझे वह जगह पसन्द नहीं। वहाँ कोई सनकी भी नहीं जाता, सिवाय उनके। मुझे तो माल रोड पसन्द है···लोगों की चहल-पहल···और तरह-तरह की बत्तियाँ। आप इनके साथ उस जंगल में तो घूम आई हैं। चलिए, अब आपको वहाँ ले चलूँ जहाँ बहार है,···सौन्दर्य है, फैशन है, जिन्दगी की रवानी है, सिर्फ मृत्यु के नजदीक ले जाने वाली सुनसान वृक्षों की साँय-साँय ही नहीं।"

मैं करुणा को मना नहीं कर सकी। क्योंकि दिलीप के साथ एक बार घूम आई थी, इसलिए इस समय उसकी पत्नी से 'ना' कर देना तो सभ्यता के विरुद्ध था। इस सभ्यता के नाते हमें कितने ही ऐसे काम करने पड़ते हैं, जिनकी ओर हमारी

घोर अरुचि होती है। किन्तु विवश होकर करना पड़ता है। हमारे रहन-सहन और दैनिक जीवन में पहले से बहुत अन्तर आ गया है। हम सोचते हैं, हम आगे बढ़ रहे हैं, हमारे पुराने संस्कार कहीं पीछे छूट गए हैं; परन्तु यह सब एक भ्रम-मात्र है। मैं भी 'कानवेएट' में पढ़ी थी, फिर कालिज में लड़कों के साथ शिक्षा पाई थी। स्कर्ट से सलवार और साड़ी पहनी थी। अब पतलून भी पहनती हूँ। हाँ, तो मैं कह रही थी कि हमारी यह शिक्षा—जो पश्चिमी ढंग से हुई है, जिससे प्रेरणा लेकर हमने पश्चिमी पहनावा भी अपनाया है—हमारे संस्कारों को छुड़ा नहीं सकती। मैं एक ऐसे सम्भ्रान्त पुरुष के साथ, जो पति भी है, एक पहाड़ी जंगल में घूम आई थी···उसके ठीक सात घंटे बाद उसी सभ्य और सम्भ्रान्त पति की पत्नी मुझे अपने साथ लिवाने आई थी, बतलाइये मैं कैसे न जाती। मैं गई। कपड़े दूसरे पहनकर।

हम दोनों जब घर से निकलीं तो मैंने देखा दिलीप अपने कमरे की खिड़की में ओवरकोट पहने खड़ा है, उसके हाथ में सिगरेट है और वह बाहर अन्धकार में खोया-खोया कुछ देख रहा है। हमारी दूसरी ओर जो फ़्लैट था, वहाँ से वायलिन बजाने का करुण स्वर आ रहा था।

करुणा ने मुझे बतलाया कि जो वायलिन बजा रहे हैं वे शिमला-कालिज में, जहाँ तुम नियुक्त होकर आइ हो, मनोविज्ञान पढ़ाते हैं। उनका नाम है सूरी साहब।

मुझे बचपन से वायलिन बजाने का शौक था जो पूरा नहीं हो पाया, क्योंकि मेरे एक भाई को भी यही शौक था। उनके लिए वायलिन का मास्टर रख दिया गया और मेरे

शोक का बलिदान कर दिया गया, क्योंकि मैं चित्र-कला सीखती थी, जो मेरे पिताजी की दृष्टि में एक अनावश्यक खर्च था और जिसे वह मेरी रुचि तथा विनोद समझकर सहन कर रहे थे।

वायलिन हमें कोई दो सौ गज तक सुनाई देता रहा··· वातावरण जरा शान्त था। घर से उतरकर ही मैंने देखा··· दूर-दूर पहाड़ों पर बने घरों में प्रकाश हो रहा है। माल रोड की बाईं ओर से हम लोग आ रहे थे। वहाँ असंख्य बिजलियाँ जल रही थीं, जो अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं। मैंने करुणा से कहा—"लगता है कि आज दिवाली है।"

"यहाँ हर रात दिवाली होती है। ऊँची-नीची पहाड़ियों पर बने हुए ये घर ··उनमें बिजली का यह प्रकाश····यह सब मिलाकर रोज दिवाली का-सा दृश्य होता है। आप तो आज अभी पहले दिन आई हैं। अभी तो माल रोड भी दूर है।"

मैं चुप हो गई···दिल्ली में रहते बहुत सुना था कि शिमला की एक अलग ही सभ्यता है, वहाँ का रहन-सहन दिल्ली, कलकत्ता और बम्बई से सर्वथा भिन्न है।

हम लोग आगे बढ़ीं तो बाईं ओर एक दो मंजिल की भव्य बिल्डिंग थी, जिसके हर-एक कमरे में बिजली का प्रकाश हो रहा था। मुझे कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ी। करुणा स्वयं ही बोली—"यह शिमला का 'मोहन' होटल है। इसको मैं सेकिण्ड रेट होटल कहूँगी। फर्स्ट रेट तो 'सेसिल' है। उस की बात न पूछिये, बहुत अच्छी जगह है। आपको जरूर ले चलूँगी। चौधरी तो जाता नहीं, मेरे एक रिश्ते के भाई हैं, जो 'सेसिल' में होने वाला कोई भी उत्सव नहीं छोड़ते। वे

जरूर वहाँ जाते है।"

मैं मौन रही; और कोई ऐसा उत्साह भी नहीं दिखला सकी कि आप मुझे जरूर ही वहाँ ले चलें। 'सेसिल'-जैसे बड़े होटल, दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मसूरी, दारजिलिंग सभी जगह पर हैं, वहाँ भी करुणा के भाई-जैसे बहुत-से लड़के होंगे, जो गर्व से कहते होंगे, उस होटल में होने वाला उत्सव मैंने कभी छोड़ा नहीं। जरूर जाता हूँ""कितने सौ रुपये उस दिन पानी की तरह वहते होंगे। शराब की कितनी ही बोतलें खाली होती होंगी। उनमें बहुत-से लोग तो ऐसा सब करना चाहते भी न होंगे। वह शायद एक-दूसरे को दिखाने के लिए एक रात इतना रुपया बरबाद करते हैं। रईसी जतलाने के लिए नहीं" वैसे ही। रईसी दिखलाने की तो बहुत लोगों में सामर्थ्य भी नहीं होती।

न जाने रुपये का ऐसा दुरुपयोग देखकर मेरा मन क्यों भर आता है। मैं यह कहने का दावा नहीं करती कि रुपया कभी भी मैंने यों ही व्यर्थ में खर्च नहीं किया।

एक बार की बात है मैं दिल्ली के 'वोल्गा' होटल से मैं अपने भाई के साथ खाना खाकर निकली थी। रात्रि के साढ़े दस बजे होंगे उस समय हमने भर पेट खाना खाया था और बहुत-सा प्लेटों में ही छोड़ दिया था, क्योंकि उसे हम किसी भी तरह अपने पेट में ठूँस नहीं सके। जिस पर हमने कॉफी भी पी और बाद में एक पान की दूकान पर जा खड़े

हुए। एक ग्यारह वर्ष का लड़का, जिसकी हड्डियाँ गिनी जा सकती थीं, ठिठुर-ठिठुरकर अपनी दोनों बाहों से शरीर के सामने एक करास बनाए खड़ा था। मानो पाले को रोक रहा हो। उसने पैसे माँगे, मैंने अपने गरम कोट की जेब में हाथ डाला। नरम-गरम कोट, जिसका भीतरी अस्तर सैटिन-जैसे नरम कपड़े का था। मैंने चवन्नी निकाली और उसके हाथ पर रख दी। मेरे भाई ने मुझे डाँटा—'…एकदम चवन्नी … तुम पागल हो नीना, यह सब इन लोगों को बिगाड़ने के ढंग हैं।'

भैया ने सिगरेट भी खरीदी और पान भी। गुब्बारे वाला पास से गुज़र रहा था। उससे अठन्नी के दो बैलून लेकर मुझे दिये। मैं बच्ची नहीं थी उस समय। बाईस वर्ष की हो चुकी थी। फिर भी मुझे दो बैलून लेकर देना भाई का कर्तव्य है। खाना खिलाने जो लाया था…। यह बैलून वाले को दी गई अठन्नी और वह सर्दी में ठिठुरते नंगे लड़के को दी गई चवन्नी। तिस पर भाई की झिड़कियाँ और बैलून लेते वक्त खाये-पिये मुख की मुस्कान पर मुझे अचम्भा हुआ।

"क्या सोचने लगीं नीना जी।" करुणा कह रही थी। मेरे उत्तर की प्रतीक्षा से पहले ही उसने अपनी बातचीत जारी रखी—"यह बाईं ओर 'काश्मीर-इम्पोरियम' है। यहाँ काश्मीर की बनी सब वस्तुएँ मिलती हैं…और दाईं ओर 'यूनाइटेड सर्विसेज़ क्लब' है। यहाँ अँगरेज़ों के समय से

बहुत घर बने हैं। उनमें गरम पानी, ठण्डे पानी की सुविधा, बढ़िया फर्नीचर, मखमल-जैसे मुलायम घास के मैदान, टेनिस, गोल्फ़ खेलने के लॉन सभी कुछ मौजूद हैं।"

मैं फिर भी चुप थी। 'यूनाइटेड सर्विसेज़ क्लब' में आरकेस्ट्रा पर कोई अँगरेजी नृत्य की गत बज रही थी। जब मैं घर से ही कुछ अनमनी चली थी, तो यहाँ पर क्या होता। करुणा, दाएँ-बाएँ क्या-क्या है यह सब समझाती जा रही थी। कौन-से दरजी की दूकान अच्छी रहेगी और कहाँ से मैं कपड़ा लूँ। शिमला की माल रोड की शोभा देखते ही बनती थी····पर मुझे बहुत अच्छा नहीं लगा। मन अशान्त हो चुका था। माल रोड से लौटते समय साढ़े नौ बज गए थे। अतः मैं घर लौटकर जल्दी ही सो गई। क्योंकि अगले दिन मुझे कालिज जाना था।

---

# तीन

अगले दिन मुझे कालिज जाने से पूर्व ही सवेरे-सवेरे दिलीप का टेलीफ़ोन आया—"आप कालेज आ जायँगी न, रास्ता तो आपको मालूम है ही।"

और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही उसने टेलीफ़ोन बन्द कर दिया। मुझे यह कुछ अटपटा लगा। भला उस टेलीफ़ोन की आवश्यकता भी क्या थी? मुझे पता था, कालिज मुझे जाना है, मैं स्वयं चली जाती। मुझे लगा, यह शुभ चिह्न नहीं। अशान्त मन से मैं कालिज जाने की तैयारी करने लगी। उस दिन मैंने फ़िरोज़ी रंग की साड़ी विशेष रूप से चुनकर पहनी। मुझे कई बार दूसरों ने बतलाया था कि मुझ पर फ़िरोज़ी रंग खूब खिलता है।

जब मैं कालिज पहुँची तो दस बज चुके थे। लड़कियों के बातचीत करने की आवाज़ नहीं आ रही थी। शायद वह अपनी-अपनी श्रेणियों में बैठ चुकी थीं। दिलीप बाहर धूप में खड़ा सिगरेट पी रहा था। धूप की हल्की और गरम किरणें उसके बालों के साथ अठखेलियाँ कर रही थीं। दिलीप की

बाईं ओर हल्के गहरे गुलाबी रंग के स्वीट पी के फूल लगे थे, और दाईं ओर पीले रंग के गेंदे के फूल। दिलीप की लम्बी सीधी नाक और बड़ी-बड़ी आँखें धूप के प्रकाश में अत्यन्त कोमल लग रही थीं।

जब दिलीप ने मेरी ओर देखा तो मैं सुबह वाला क्रोध भूल गई और सोचने लगी—'दिलीप राजकुमार से भिन्न है, कोमल है। इसके मुख पर बुद्धि और ज्ञान की छाप है तथा राज के मुख पर अहं की।'

"क्षमा कीजिएगा मुझे कुछ देर हो गई है," मैंने जरा झिझकते हुए कहा।

दिलीप ने सिगरेट न जाने क्यों धरती पर फेंक दी और उसे पैर से मसल दिया।

"पहले दिन देर हो जाना तो बड़ी बात नहीं।"

बिलकुल अपने व्यक्तित्व से अलग हटकर यह बात कही गई थी। अपने साथ ले जाकर प्रत्येक श्रेणी में दिलीप ने छात्राओं से मेरा परिचय करवाया। मैंने देखा, शिमला की लड़कियों का स्वास्थ्य दिल्ली वाली लड़कियों से अच्छा है। यहाँ लड़कियां के गाल लाल हैं और आँखें जीवन से भरी हुईं।

एक बार प्रत्येक श्रेणी में ले जाकर दिलीप मुझे स्टाफ़-रूम में छोड़ गया। इस कमरे में कालीन बिछा हुआ था, जिस पर पाँव रखते ही मुझे लाहौर की याद आने लगी। लाहौर में प्रत्येक व्यक्ति के घर में ऐसे ही कालीन होते थे, गोलाकार फूलदार और गुलदस्ते के डिजाइन वाले कालीन। जो परशिया से मानो सिर्फ लाहौर के लिए ही आते थे। मेज अथवा

कुर्सियाँ नई-नई पालिश की हुई थीं।

कमरे के बीचों-बीच एक फोल्डिंग परदा लगा था, जिसे बन्द किया जा सकता था और खोला भी जा सकता था। दिलीप ने मुझे बतलाया कि यह पर्दा स्त्री और पुरुष-अध्यापिकाओं के बीच में लगा है। कभी वे खाना खाती हों, या आराम करना चाहती हों तो उसे खोल लेती हैं। कमरे को सुरुचिपूर्ण चीज़ों, दर्पण तथा अन्य सजावट की वस्तुओं से सुसज्जित देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। चित्रशाला दूसरे कमरे में थी, उसकी खिड़की कालिज के एक कोने में थी, जो शीशे से मढ़ी थी। मुझे लगा कि कालिज-भर में यही कमरा सबसे अधिक सुन्दर है।

मैंने सब देखा, अच्छा लगा। चित्र-कला सीखने वाली केवल आठ लड़कियाँ थीं। अध्यापिका का स्थायी प्रबन्ध न होने से बहुत-सी लड़कियों ने यह विषय छोड़ रखा था।

मैं स्टाफ़-रूम में बैठी थी। एक मेरी सहयोगिनी बोली—"आपको तो चौधरी ने सब श्रेणियों में घुमाकर परिचय करवा दिया है, होना ऐसा ही चाहिए। पर हमारे प्रिन्सिपल तो ऐसा न करते, वह बिलकुल बुद्धू हैं।"

दूसरी बोली—"अच्छा हुआ, सुना तुमने उन्हें वह नौकरी मिल गई है, जिसकी इण्टरव्यू के लिए वह दिल्ली गए हुए हैं।"

("हाँ, वह चले जायँ, तो चौधरी प्रिन्सिपल बनेगा।"

"तो हमें क्या? वह कौन, किसी से बात करके प्रसन्न होता है।")

वह दोनों खिलखिला पड़ीं। मैंने उनकी बात में योग नहीं

दिया और न हँसी ही। मैं उनकी बात समझ गई, परन्तु उसके पीछे रहस्य क्या था यह नहीं समझी। बातचीत के सिलसिले में मुझे यह भी मालूम हुआ कि दिलीप वहाँ लड़कों के एक कालिज में भी पढ़ाने जाता है। करुणा भी एक स्कूल में हैड मिस्ट्रेस है। यह सब जानकर मुझे आश्चर्य हुआ।

करुणा मुझसे शहर भर की बातें करती रही थी, परन्तु उसने एक बार भी यह नहीं कहा था कि मैं काम करती हूँ। मैं मन-ही-मन सोच रही थी कि दिलीप के जो ठाठ हैं, वह एक लैक्चरार के नहीं हो सकते।

यहाँ शिमला-कालिज में तो इतना वेतन नहीं मिलता होगा, फिर पत्नी और बच्चा; तिस पर शिमला की मँहगाई। दूसरे महायुद्ध से पहले भी शिमला में दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता से खाने-पीने की वस्तुओं में मँहगाई थी।

मुझे अधिक काम न था, इसलिए मैंने घर लौट जाना चाहा। मैंने सोचा मैं एक बार दिलीप से कह दूँ, 'मैं जा रही हूँ।' पर वह व्यस्त था। ज्यों ही मैं फाटक से निकलने लगी मुझे एक चपरासी बुलाने आया और बोला—"चौधरी साहब बुलाते हैं।"

मैं दिलीप के कमरे में चली गई।

"आप इतनी जल्दी जा रही हैं।"

"तो क्या इसके लिए प्रिन्सिपल की आज्ञा लेने की आवश्यकता है?"

दिलीप का मुख एक क्षण के लिए लाल हो उठा।

"नहीं, मैं तो वैसे ही पूछ रहा था। कॉफी पीजिएगा क्या?"

और उसने फिर मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही

चपरासी को कॉफ़ी लाने की आज्ञा दे दी।

'क्या यह वही चौधरी है, जिसे मेरी साथिनें हठीला और गर्वीला कह रहीं थीं।' मैं सोच रही थी।

"क्यों, क्या सोचने लगीं, कालिज पसन्द आया आपको?"

"बहुत सुन्दर है। मुझे अच्छा लगा।"

दिलीप खिलखिलाकर हँस पड़ा। जैसे सूर्य की रश्मियों से धीरे-धीरे कोहरा फट जाता है और पृथ्वी पर प्रकाश फैल जाता है, दिलीप की आह्लादपूर्ण हँसी से मेरे मन के बादल फट गए।

'यह दिलीप घमंडी और अभिमानी है?' मेरे मन ने गवाही नहीं दी।

"आप जब बात करती हैं तो 'सुन्दर' शब्द का व्यवहार अवश्य करती हैं।"

"ओह, जुबान से खिसक जाता है।"

"क्यों यह भी कोई रेशमी साड़ी का पल्लू है, जो बार-बार खिसक जाता है?"

मैं हँस पड़ी।

"आप हँसती बहुत अच्छा हैं, जैसे धूप निकल आई हो, बादल मिट गए हों।"

"आप तो कविता भी करते हैं।"

मेरा मुख बुरी तरह से लाल हो रहा था। मैं स्वयं यह अनुभव कर रही थी।

"कविता लिखता तो नहीं, पढ़ाता जरूर हूँ। मुझे लगता है, आप कीट्स के समय में अवश्य पैदा हुई होंगी, नहीं तो उसे लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिलती।"

मैं सोच रही थी, 'दिलीप बहुत बातें करता है। उन लोगों से न करता होगा जो इसकी इतनी निन्दा करती हैं। क्या दिलीप को करुणा समझ पाई है?'

उस कमरे में पूर्व की ओर खिड़की खुली थी, और ऊँची चोटियों से भीनी-भीनी हवा आ रही थी, और ढलानों पर धूप खिलखिला उठी थी।

मैं कॉफ़ी बहुत धीरे-धीरे पी रही थी, क्योंकि मुझे दिलीप के पास बैठने का मोह हो गया था। दिलीप अपना कप कभी का खत्म कर चुका था। वह एक बड़ी-सी किताब में से कुछ नोट्स बना रहा था और कभी-कभी मेरी ओर भी देख लेता था। इसमें उसका अपना परिश्रम कुछ नहीं था, केवल उसकी बड़ी-बड़ी आँखें ही मेरी ओर उठ जाती थीं।

एक कप कब तक चलता। दिलीप ने घंटी बजाकर, एक कप कॉफ़ी मेरे लिए और मँगवाई। 'दिलीप को कैसे पता चल गया कि मैं उसके पास बैठना चाहती हूँ', कृतज्ञता से मेरा सिर झुक गया। मुझे उस पर थोड़ी-सी झुँझलाहट हुई, इसी लिए मैंने व्यंग्य पूर्वक कहा—"आप अपना काम करते जा रहे हैं और मुझे चाहते हैं कि मैं यहाँ बैठी रहूँ, कॉफ़ी पीती रहूँ।"

दिलीप ने मेरी ओर देखा। वह मौन रहा और फिर सहसा एक लम्बी साँस लेकर बोला—"मैं कैसा हूँ, यह तो आप अपनी साथिनों से सुन चुकी होंगी। आपको यहाँ बैठकर कॉफ़ी पीने में सुख मिला है, ऐसा मैंने अनुभव किया। आप यहाँ बैठकर कॉफ़ी पियें, ऐसा मैं भी चाहता हूँ, मेरे दिमाग़ की थकावट इससे दूर हो गई है।"

मुझे याद नहीं कि इतनी स्पष्ट बात का उत्तर उस समय मैंने क्या दिया था। हाँ, इतना जरूर ध्यान है कि मैं वहाँ से चली आई थी।

मैं रास्ते-भर सोचती जा रही थी, दिलीप के साथ अन्याय हुआ कि उसे करुणा-जैसी पत्नी मिली। करुणा सुन्दर है, सुशिक्षित है, चतुर है। पर विभाजन से पहले जैसी पंजाबी लड़कियाँ होती थीं, वैसी ही है।

विभाजन के बाद पंजाबी सभ्यता में धरती-आकाश का अन्तर आ गया है। जैसे यह परिवर्तन करुणा के पास से हवा के एक झोंके की तरह निकल गया हो, और करुणा को छू भी नहीं सका हो।

मैं घर पहुँची तो देखा, करुणा पहले से ही बैठी है। मेरे बैठते ही उसने प्रश्नों की झड़ी लगा दी, "मुझे कालिज कैसा लगा है? मिस सेठी को मैंने देखा कि नहीं? मिस चोपड़ा का ब्याह कभी नहीं हो सकता, मिस कृपलानी बहुत भड़कीले वस्त्र पहनती है। लड़कियों में सविता सोनी सबसे स्मार्ट है। वह चित्र-कला की स्टूडेण्ट है।"

मैंने जैसे-तैसे उत्तर दिया। करुणा प्रसन्न दिख रही थी। हम दोनों ने चाय पी और फिर उसने माल रोड पर सैर करने का प्रस्ताव किया। मैं नहीं गई। केवल यही कहा—"मैं बहुत थक गई हूँ।"

करुणा निराश होकर चली गई।

मैंने खिड़की में से देखा, वह घर की ओर न जाकर माल रोड की ओर चली गई है।

जाते समय वह कहती गई"—तुम्हें भी मेरे पति की तरह

दीवारों में आँखें गड़ाकर बैठने का शौक है, यह मैं पहले नहीं समझी थी। जहाँ ज़िन्दगी की तेज़ रफ़्तार है, मुस्कराते हुए चेहरे हैं, वहाँ तुम दोनों जाना पसन्द नहीं करते।"

मैंने बाईं ओर खिड़की में से झाँककर देखा। सन्ध्या हो चली थी और उसके हल्के अन्धकार में दिलीप कुर्सी पर बैठा, मेरे फ़्लैट की ओर मुख किये सिगरेट पी रहा था। मैंने देखा-उसने भी देखा, और सिगरेट का एक लम्बा-सा कश खींचकर धुआँ छोड़ा। मैं अपने सोने वाले कमरे में चली गई, और बिस्तर पर लेट गई।

कितनी ही देर तक मैं ऐसे ही पड़ी रही। फिर टेलीफ़ोन की घण्टी बजी तो मैं उठी। टेलीफ़ोन दिलीप का था।

"आप करुणा के साथ सैर को नहीं गईं क्या ?"

"नहीं, थक बहुत गई थी।"

"आज आपने काम तो कुछ किया नहीं। थक कैसे गईं ? जवाब दीजिये।"

"क्यों परीक्षा हो रही है क्या ?"

"नहीं तो। गलती हो गई। फिर नहीं कहूँगा, गुडनाइट।"

दिलीप ने टेलीफ़ोन रख दिया।

उस रात मैंने राज को पहला पत्र लिखा—

"राज,

मैंने इस नये स्थान पर पहुँचकर तुम्हें कोई पत्र नहीं लिखा। तुम मुझे मन-ही-मन गालियाँ दे रहे होगे। सच राज, मन में कितनी ही बार विचार आया कि तुम्हें पत्र लिख डालूँ, पर बीच में कोई दूसरी बात आ जाती थी। मुझे यहाँ पहुँचे अभी केवल तीन-चार दिन ही हुए हैं। चलने से पहले मैंने जो

पत्र तुम्हें लिखा था, वह अभी न मिला होगा। यह और वह दोनों शायद साथ-साथ ही मिलें।

मैंने कालिज जाना शुरू कर दिया है। जैसा तुम्हारा विचार था कि शिमला पहुँचते ही मैं ऊब जाऊँगी, वह ठीक नहीं।

शिमला अच्छी जगह है, इसकी तुमसे क्या प्रशंसा करूँ, तुम तो सब देख चुके हो। यहाँ सबसे अधिक जो बात मुझे अच्छी लगी, वह है जीवन को सुविधाजनक बनाने के लिए विज्ञान का पूर्ण उपयोग।

मैं तुम्हें लिखना कुछ चाहती थी और लिख कुछ और रही हूँ। यहाँ आकर, घर से परिवार वालों से दूर आकर, मैंने किसी असुविधा का अनुभव नहीं किया, माँ और पिता जी के साथ जो भैया रहते हैं उनकी पत्नी पढ़ी-लिखी नहीं थी, अशिक्षित भाभी और शिक्षित ननद में तभी शान्ति पूर्वक निर्वाह हो सकता है यदि ईर्ष्या और द्वेष का स्थान स्नेह ले ले। अब वह जरा-सी बात पर होने वाली तू-तू मैं-मैं यहाँ बन्द हो गई है। यहाँ मैं अकेली हूँ। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि घर में केवल मैं हूँ और साथ तुम्हारी याद है, जिसको मैं कभी एक क्षण के लिए भी दूर नहीं कर पाती। अभी तक तो मैंने कोई नया चित्र बनाने की बात नहीं सोची।

तुम कहोगे, यह कैसा पत्र है? एक बात इधर की, एक उधर की; किसी को भी विस्तार से नहीं लिखा। मन कुछ अशान्त है। नये स्थान पर, नये लोगों से परिचय होता है, प्रत्येक नये व्यक्ति का बातचीत करने का, जीवन को समझने का अपना ढंग होता है। राज कभी-कभी वातावरण भीगा-भीगा लगता है। हम चाहते हैं, हमारे कपड़ों को यह नमी न

छुए'''पर अनजान में ही हमारे कपड़े भी सील जाते हैं। यही हमारे मन के लिए भी लागू हो सकता है।

मुझे रह-रहकर उस अतीत की याद आती है जो कि मीठा और कड़वा दोनों है। वह समय भी याद है जब हमें फूलों का शौक था। जब हम लोग काश्मीर में थे, तो तुम रोज़ तरह-तरह के फूल चुनकर मेरे लिए लाते थे। जब तुम्हारे आस-पास के फूल ज़रा मुरझाने लगते थे तो तुम जंगलों के उदास फूल, नदी के किनारे से झूमते हुए फूल, पहाड़ की चोटियों पर लगे इक्के-दुक्के फूल, नन्हे-नन्हे अपने-आप उगे हुए फूल, मेरे लिए लाते थे, चाहे तुम्हें मीलों जाना पड़ता। शिमला में मैंने फूल बहुत कम देखे हैं, एक भी कहीं आस-पास नहीं देखा। यहाँ ताज़े फूल न मिलें तो नकली से काम चलाना पड़ता है।

अच्छा राज, रात बहुत हो गई है, अब मैं सोऊँगी, शाम को बादल बिलकुल नहीं थे, इस समय बड़े ज़ोरों से वर्षा हो रही है। सर्दी भी कुछ बढ़ गई है, फिर दूसरे पत्र में और लिखूँगी।

—तुम्हारी, नीना।"

# चार

पत्र लिखने के बाद मैंने सोचा था कि मैं सो जाऊँगी, पर बड़ी रात तक नींद नहीं आई। कुछ समय तक तो मुझे लगा, मानो मैं भावों में बह रही थी। मनोवेगों का दुष्ट भाव सब पर पड़ता है, मुझ पर भी पड़ा। दूसरे दिन सोकर उठी तो सिर भारी था।

चाय पीकर बाहर झाँका तो देखा सारी रात वर्षा होती रही थी, वृक्षों के पत्ते धुले हुए थे। निचाई वाली जगह पर पानी भी ठहरा हुआ था। वह नाले, जो बादलों की राह देखते हैं, बड़ा शोर कर रहे थे। मैंने देखा, मुझे खिड़की में खड़ा देखकर दूध पहुँचाने वाली स्त्री 'नमस्कार' कर रही है। अधेड़, खिचड़ी बाल, गोरा रंग, मधरा-मधरा शरीर चाँदी के गहनों से लदा, चुस्त पयजामा पहने वह स्त्री अपनी नथ हिलाती अपने वातावरण से चुहल कर रही है। पास-पड़ोस वाले केवल उसे दूध वाली कहते थे, मानो दूध बेचने को छोड़कर उसका कोई अस्तित्व ही न हो।

मैं खिड़की से सटी सोफे वाली कुर्सी पर बैठ गई। तभी

किसी का नौकर एक फूलों का गुलदस्ता लाया। साथ में एक पत्र था लिफाफे में बन्द। उस पत्र में लिखा था—"कल रात आप बहुत अच्छा गाती रहीं, मैं सुनता रहा, अमृत बरसता रहा।" मैंने लिफाफा फाड़कर फेंक दिया। भेजने वाले थे सूरी साहब। मैंने उसी चिट के दूसरी ओर लिख दिया, "वायेटेक्स का इस्तेमाल कीजिए।" और चिट तथा फूल मैंने अपने नौकर को दे दिए। मन-ही-मन मैं सोच रही थी कि यह चुस्त पायजामे और सुन्दर नथ वाली उस दूध बेचने वाली स्त्री को फूल अवश्य भेंट करेगा।

मुझसे मेरा नौकर यहाँ आने के दूसरे दिन ही कह रहा था, "बीबी जी, सुना था पहाड़ी स्त्रियाँ ठीक नहीं होतीं, यहाँ की औरतें तो बहुत ही अजीब हैं। हमारी दूध वाली शराब पीती है और दूध भी बेचती है।"

मैं नौकर से नहीं कह सकी कि तुम सच कह रहे हो। जीवन में प्राय: ऐसा ही होता है, लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं।

(मैं अनमनी-सी कुर्सी पर बैठी रही। इतने में दिलीप का टेलीफोन आया—"कहिये, कल रात आप बहुत देर तक गाती रहीं?")

"गाया तो अधिक देर तक नहीं, हाँ नींद नहीं आ रही थी।"

"आज भी दिन-भर गा सकती हैं।"

"क्यों, आज क्या है?"

"आज यहाँ एक पहाड़ी मेला है, उसीके लिए हमें छुट्टी करनी पड़ती है।"

"यानी आपके कहने का मतलब है कि आज छुट्टी है।"

"हाँ, आप ऐसी आई हैं कि रोज छुट्टी ही हो जाती है।"

मैं खिलखिलाकर हँस पड़ी।

"क्यों हँस क्यों रही हैं?"

"आपकी बात पर। मैं न आती तो आप लोग छुट्टी न करते"

"हो सकता है।"

और इस बार दिलीप हँसने लगा। मुझे लगा मेरे मन में जो घुटन थी, अवसाद था, वह सब घुल गया है। वैसे अब मैं भी खुले रूप से बात कर सकती हूँ। सवेरे जो थकान अनुभव हो रही थी, वह समाप्त हो चली है अब।

"आप वह पहाड़ी मेला देखने चलेंगी?"

"क्या बहुत अच्छा होता है?"

"यह आप कैसी बात करती हैं? बहुत सुन्दर होता है, बहुत अच्छा होता है? यानी प्रत्येक वस्तु की जब तक एक सीमा नहीं होती, आपका मन उसे देखने-सुनने को भी तैयार नहीं होता?"

"आप शायद यह भूल गए हैं कि फोन पर बात कर रहें हैं।"

"मैं और करुणा तैयार हो कर आ रहे हैं। लगभग आध घंटे में जायँगे।"

"अच्छा!" कहकर मैंने टेलीफोन रख दिया।

'यह दिलीप न जाने मुझे क्या समझ रहा है।' मैं मन-ही-मन तुनक रही थी।

उस दिन भी यदि इस पहाड़ी मेले में मैं न जाती तो

दिलीप के इतने निकट आने की सम्भावना न होती। मेले में जाने के लिए करुणा साथ थी, करुणा की एक सखीभी, जो उसी-के स्कूल में पढ़ाती थी, साथ थी।

(दिलीप ने चेकदार कोट पहना था और उसी से मेल करती हुई सलेटी रंग का पेंट। मैं काली साड़ी और काला ही ब्लाउज़ पहने थी। यह कपड़ों का वर्णन अधिक इसलिए कर रही हूँ कि मुझे पता था—जो भी मैं पहनती हूँ, दिलीप उसे बड़े ध्यान से देखता है। राज को तो मेरे कपड़े देखने का शौक नहीं था।)

मुझे देखकर दिलीप मुस्कराया। मैं भी उस मुस्कराहट का स्वागत किये बिना न रह सकी। हम लोग एक मोटर में बैठकर कुछ दूर तक गए। पहाड़ी के पास जाकर ठहर गए और फिर वहाँ से हम मेले में पैदल पहुँचे। रास्ता काफ़ी लम्बा और ऊबड़-खाबड़ था। मुझे पैदल चलने की आदत नहीं थी, इस लिए मैं अत्यधिक थक गई थी। दिलीप रास्ते-भर कुछ बोला नहीं, करुणा ही बोलती रही, इधर-उधर की हाँकती रही। दिलीप ने मुझे बुलाने के लिए बड़ी उत्सुकता दिखलाई थी। मैं सोच रही थी, 'टेलीफ़ोन पर तो बहुत बात कर रहा था।' अब की इस चुप्पी से मुझे लगा कि मेरा अपमान हो रहा है। जिस स्थान से हम जा रहे थे, वह देवदारुओं की घनी छाया से युक्त एक घाटी थी। वहाँ पहाड़ पर से उतरकर अँधेरे में हम आए, दाईं ओर से धूप आ रही थी।

करुणा बार-बार मेरे चुप रहने पर टिप्पणी कर रही थी। आखिर तंग आकर वह अपनी सखी से बातचीत करने लगी।

पहाड़ियों का मेला देखने का यह मेरा पहला ही अवसर था। काश्मीर में मैंने पहाड़ियों को केवल देवता के सामने

नाचते हुए और भेड़-बकरियों का बलिदान करते देखा था। एक ऐसा मेला भी देखा था, जिसमें मनोरंजन के लिए झूले, पहाड़ी नृत्य का प्रदर्शन और तिब्बत से आई हुई वस्तुओं की बिक्री हो रही थी। इस मेले में भी भीड़ उतनी ही थी, जितनी एक शहरी मेले में हो सकती है। इसी भीड़ में मैंने देखा, वह और उस-जैसी बहुत-सी अन्य दूध वालियाँ वहाँ उपस्थित थीं। प्रत्येक की नाक में नथ थी, नहीं तो लौंग थी, चुस्त चूड़ीदार पायजामे में उन सबकी छटा देखने के ही योग्य थी।

करुणा अपनी सखी को लेकर झूले पर चढ़ गई। मुझे भी आने के लिए कहा, परन्तु मैं नहीं गई। कुछ लज्जावश ही रह गई। एक बार मन में यह भी आया कि पहाड़ी स्त्रियाँ तो बैठी हैं।

दिलीप का मौन टूटा उसने मेले के दूसरे भाग को देखने की राय दी, हम लोग चले। एक अधेड़ पहाड़ी औरत चूड़ियाँ बेच रही थी। दिलीप उसके पास खड़ा हो गया और उसने मुझे काली चूड़ियाँ खरीदकर दीं। मैं काली साड़ी और काला ब्लाउज़ पहने थी। क्या इसीलिए यह काली चूड़ियाँ?

राजकुमार लाल चूड़ियाँ लाया करता था, और यह काली चूड़ियाँ खरीद रहा है। मैंने दिलीप की बड़ी-बड़ी आँखों में देखने का प्रयत्न किया। वह पहले की तरह विशाल थीं। उनमें गर्व था या अहं की भावना, यह मैं समझ न पाई थी।

मैं यह नहीं पूछ सकी कि यह काली चूड़ियाँ किसलिए खरीदी गई हैं? सामने एक पहाड़ी महिला आ रही थी, काला दुपट्टा और काली जाकेट पहने।

"क्यों इसको नहीं देंगे आप काली चूड़ियाँ?"

दिलीप का मुख तमतमा गया। बड़ी-बड़ी आँखें क्रोध से लाल हो गईं।

"मुझसे क्या कहलवाना चाहती हैं आप ?"

मैंने दिलीप की ओर देखा, उसने मेरी कलाई पकड़ ली।

"तोड़ दूँ सब-की-सब चूड़ियाँ क्या ?"

"नहीं, देखिये क्या करने जा रहे हैं आप ?"

एक चूड़ी मेरी कलाई में धँस गई। दिलीप का हाथ ढीला हो गया। उसके मुख की ओर देखते हुए, मैंने दूसरे हाथ से कलाई में धँसा हुआ वह चूड़ी का टुकड़ा निकाल लिया। खून टप-टप बहने लगा। अधिक नहीं, पर कम भी नहीं। दिलीप ने अपना रूमाल निकाला और साथ ही की शरबत वाली दुकान से उसे पानी में भिगोकर वहाँ बाँध दिया।

"मुझे माफ़ कर दो।"

"आप क्यों माफ़ी मांगते हैं। ग़लती मेरी है।"

इतने में सामने से करुणा और उसकी सखी भी आ गईं।

(करुणा ने आते ही पूछा—"अरे, यह क्या हुआ नीना ?"

"कुछ नहीं, चूड़ियाँ पहन रही थी, एक चूड़ी टूट गई और कलाई में धँस गई। उससे खून निकल आया। आप कहो झूला कैसा रहा ?")

करुणा अपनी सखी की ओर देखकर मुस्कराई। वह मेरी कलाई की बात भूल गई। उसने कुछ खाने-पीने का प्रस्ताव रखा। दिलीप ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। दिलीप के सामने ही मैंने करुणा से झूठ बोला था। मुझमें इतना साहस नहीं था कि उसके मुख की ओर देखूँ। यद्यपि उसमें दोष मेरा न था। खाते समय भी मैं दिलीप की ओर नहीं

देख पाई। हमने पहाड़ी नृत्य देखा, गाना सुना, घूम-घूमकर मेला देखा। करुणा ने मिट्टी और पत्थर के कुछ खिलौने लिये और जब दोपहर होने को आई तो हम थककर घर वापिस आ गए।

करुणा सीधी पिता के घर चली गई।

मैं मन से भी थक गई थी और शरीर से भी। मैंने गरम पानी से स्नान किया, धूल से भरी काली साड़ी बदली। चूड़ी वाला घाव ज़रा-ज़रा-सा दुख रहा था। मैंने उस पर दिलीप वाला रूमाल बँधा रहने दिया।

स्नान करने के थोड़े-से समय बाद ही मेरा नौकर मुझे चाय बनाकर दे गया। मैंने प्याली मुँह को लगाई ही थी कि दिलीप आ गया। साथ में उसकी लड़की थी। उसकी आयु चार वर्ष के लगभग होगी।

"बेबी, मौसी देखी है तुमने ?"

"आओ बेबी, यहाँ आ जाओ, पापा को बैठने दो।"

"बेबी, मौसी से कह दो, हमें माफ़ करेंगी तो हम बैठेंगे।"

"बेबी, कह दो पापा से, मौसी का ही तो दोष है, वह बेचारी क्या माफ़ करेगी।"

"बेबी, मौसी से कह दो, नहीं आपका नहीं पापा का दोष है।"

"यह आप बेबी को कितनी देर बीच में घसीटते जायँगे। लीजिये, चाय पीजिये।"

बेबी को मैंने बिस्कुट दिया, वह उसे लेकर बाहर भाग चली गई।

"आप चाय लीजिये न !"

"चाय नहीं सिगरेट, आप सिगरेट पीना क्यों नहीं शुरू कर देतीं ?"

"कर दूँगी, आप लोगों का साथ रहा तो सिगरेट भी कोई बड़ी बात नहीं। पर तम्बाकू से तो भीतर का सब जल जाता है।"

"अभी भी कौन-सा है बिना जला हुआ ?"

"आप जीवन के प्रति इतनी उदासीनता से क्यों बात करते हैं। यह सब आपको शोभा नहीं देता।"

दिलीप ने बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखा और फिर केवल एक लम्बी साँस खींचकर चुप रह गया। कुछ देर बाद बोला—"आप ऐसा क्यों समझती हैं कि प्रत्येक प्राणी आपकी तरह जीवन को प्रगति के पहिये लगाकर चले।"

मैं उत्तर देने ही वाली थी कि दिलीप को उसका नौकर बुलाकर ले गया। कालिज के प्रिन्सिपल दिल्ली से लौटकर आ गए थे। दिलीप को उन्होंने ही फौरन बुलाया था।

दिलीप चला गया। मैं लेटकर सोचती रही,'यह जीवन में जो इतना बड़ा परिवर्तन आ रहा है, यह तूफ़ान-सा। दिलीप की पत्नी, दिलीप की बेटी, और एक ओर मैं, मेरे पीछे मेरा परिवार, मेरा समाज······।' न जाने मैं कब सो गई, उठी तो बहुत रात हो चुकी थी। घड़ी में समय देखा तो साढ़े नौ बज गए थे।

मैंने अपना फ़्लैट घूम-फिरकर देखा। नौकर ऊँघ रहा था, मेज़ पर खाना रखा था ढककर। मैंने नौकर को उठाया, और खाना गरम करने को कहा।

दिलीप के फ़्लैट को देखा, वहाँ प्रकाश था और दिलीप

घर में सोने का लम्बा गरम कोट पहने सिगरेट पी रहा था। मैंने वहाँ खड़ा रहना उचित नहीं समझा, और खाना खाकर अपने कमरे में सोने को आ गई। अभी-अभी सोकर उठी थी। फिर से नींद आनी कठिन थी, इसलिए राज को पत्र लिखने बैठ गई—

शिमला

"प्रिय राज,

मेरा पहला पत्र किसी हवाई जहाज़ में, एक छोटे-से थैले में बँधा तुम तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा होगा, उस पत्र के ठीक तीसरे दिन तुम्हें यह मिल जायगा। मुझे तुम्हारा कोई पत्र अभी तक नहीं मिला। शायद तुम इंगलैंड के बड़े-बड़े पुस्तकालयों में यहाँ की बात भूल गए हो। पर यह मैं कैसे मान जाऊँ कि तुम मुझे भूल गए हो।

मैंने पुरुषों की, और उतनी ही संख्या में नारियों के विश्वास-घात की कथाएँ पढ़ी हैं। उनको संभव भी मानती हूँ, पर उसमें व्यक्ति विशेष को दोष नहीं देती। मनुष्य स्वभाव ही जो ठहरा, जब तक वह नहीं बदल जाता तब तक सभी कुछ हो सकता है।

इस समय रात्रि के दस बजे हैं। आज बादल नहीं हैं, तारे आकाश में खिले हैं। तुम्हें तारों की ओर देखने का बड़ा शौक था। मुझे याद है जब भी तुम तारों की ओर देखते थे तो हमेशा यही कहते थे 'मीना चाँद के सामने यह तारे फीके पड़ जाते हैं, मैं इनकी ओर देखना पसन्द नहीं करता, यह एक जंगली फूल की तरह अपने-आप बिना प्रशंसकों के बढ़ते हैं। खिलते हैं और अस्त हो जाते हैं।'

आज मैं मेला देखने गई थी, यहाँ का पहाड़ी मेला। राज, क्या बताऊँ जो स्थान इन लोगों ने मेले के लिए चुना था, वह देखने ही योग्य था। मुझे उस समय कुछ देर के लिए यह भ्रम हुआ मानो मैं किसी दूसरे देश में हूँ। चारों ओर पहाड़ों से घिरा मैदान और फिर उसमें सम्मिलित होने वाले ऐसे व्यक्ति, जो हमारी इस बीसवीं सदी के काटे, छुरी, लिपस्टिक, सैण्ट, बुश्शर्ट और च्यूइंग गम की सभ्यता से दूर के निवासी हैं।

शिमला में पहले प्रायः विदेशी रहते थे, अब भी रहते हैं, उनके पास जो आया रही है वह लिपस्टिक और पाउडर का बेढंगा प्रयोग सीख गई है। मेले में भी कुछ ऐसी स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने लिपस्टिक लगा रखी थी। फिर भी मुझे लगा था, वह हमारी सभ्यता की कृत्रिमता से बहुत दूर हैं।

वहाँ अधिकतर स्त्रियों ने ही दुकानें लगा रखी थीं। यह पहाड़ी स्त्रियाँ भी खूब होती हैं राज, हँसती हैं तो जी भरकर, सिगरेट पीती हैं तो सबके सामने। चुस्त पायजामा, नथ, लौंग और चूड़ियाँ पहनकर तो वे ऐसे तैयार रहती हैं मानो अभी कहीं जाने वाली हैं। इनका जीवन बहुत कठोर है।

यह ऊँची-नीची पहाड़ियाँ देखने में तो बड़ी भली लगती हैं, कुछ दिन के लिए तो यह भी अनुभव होता है कि हम देवताओं की नगरी में आ गए हैं। जब जीवन-भर इन्हीं में रहना हो तो जी ऊब जाय। पशु चराते, मकई काटते, चावलों को पानी देते यह जीवन, व्यतीत कर देती हैं। प्रत्येक व्यक्ति यहाँ निर्धन है, अशिक्षित है। मेले में 'तोता-मैना का किस्सा' बिक रहा था, जिसे हिन्दी जानने वाले मुट्ठी भर लोग खरीद

रहे थे। सुना है वे बड़े चाव से पढ़ते हैं उसे। कोई मनोरंजन नहीं, ज्ञान नहीं। इन पहाड़ों के पार भी कोई दुनिया है। तुम्हारे-जैसे भारतीय विद्यार्थी इंगलंड और अमरीका में पढ़ने जाते हैं, यह बहुतों को न पता होगा। इनकी ओर देखकर मुझे वह प्रतिज्ञा याद आई, जो तुमने हमारे ग्रुप से ली थी।

याद है तुम्हें उस समय बहुत-से विद्यार्थियों में रचनात्मक कार्य का धूम मच गई थी। तुमने एक समूह में भाषण देते हुए कहा था, 'हममें मिशनरी भावना होनी चाहिए। विदेशी दूसरे देशों में, अपने धर्म, भाषा, तथा सभ्यता का प्रचार करते हैं, विदेश की जलवायु का प्रकोप सहते हैं। हम अपने ही देश के जलवायु में अज्ञान को दूर नहीं कर सकते? हमें कोई अधिकार नहीं कि गरमी की छुट्टियों में हम शिमला, मसूरी और अन्य पहाड़ों पर जायँ और सैर-सपाटे करके आ जायँ। हमें इन छुट्टियों में गाँव में घूम-घूमकर शिक्षा का प्रचार करना चाहिए।'

हाँ तो राज, वह प्रतिज्ञा, तुम्हारा भाषण, और वह सभा मुझे अब भी याद है। उस दिन के बाद हम कई-एक गाँवों में जाते भी रहे, उन जाने वालों में प्रायः हम ही हुआ करते थे।

तुम लिखो न, कितना काम तुमने कर लिया है। तुम अपने वापिस आने की तारीख छिपाते जा रहे हो। बलवन्त मुझे दिल्ली में मिला था, वह शायद तुमसे मिलकर आया था। कह रहा था—'राज अब आने ही वाला है।' वह तो मैं दो साल से सुन रही हूँ, एक वर्ष की बजाय तुमने पहले ही झूठ कहकर छः मास बतलाए थे।

राज, मनुष्य यदि अपने वातावरण को भूलना चाहे,

अपने आस-पास पड़ी वस्तुओं को भूलना चाहे तो, कैसे भूले? इस पर अपने अगले पत्र में प्रकाश डालोगे। जब मैं अपने चारों ओर अभाव-ही-अभाव देखती हूँ तब मुझे झुँझलाहट होती है।

इतनी दूर पत्र भेज रही हूँ, एक शब्द भी तुम्हारे विषय में नहीं। यहाँ लोग सोच रहे होंगे, मैं अपने वातावरण से चुहल कर रही हूँ। पर···

मुझे तुम्हारा पत्र अब मिलना ही चाहिए, नहीं तो मैं भी अब तुम्हें नहीं लिखूँगी। यह धमकी नहीं है। अच्छा शेष फिर।

—तुम्हारी, नीना।"

# पाँच

मेले में काली चूड़ियों को लेकर जो घटना हुई उससे दिलीप और मुझमें जो व्यवधान की दीवार थी, वह टूट गई। क्रोध में वह 'आप' से 'तुम' कह गया था। अब वह बातचीत करते समय प्रायः 'तुम' कहता, फिर स्वयं ही 'आप' कहने लगता। मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहना चाहती थी। इधर कालिज के प्रिन्सिपल को दिल्ली में नौकरी मिल गई थी। दिलीप को उस समय तक के लिए प्रिन्सिपल बना दिया गया जब तक कि एक नया व्यक्ति नियुक्त न हो। सबको आशा थी कि दिलीप को स्थायी रूप से ही यह पद मिल जायगा।

वह काली चूड़ियाँ अभी भी मेरी कलाई में पड़ी थीं। मेले को समाप्त हुए लगभग एक सप्ताह हो चुका था। इस पूरे सप्ताह में न तो मैं उसके घर गई, और न ही उसके कमरे में। कालिज में कभी-कभी भेंट हो जाती, जब कि वह एक श्रेणी में से निकलकर दूसरी में जाता होता था। मैं एक ओर से दूसरी ओर निकलती होती थी। वह केवल हाथ जोड़कर 'नमस्कार' कर देता और मैं भी किंचित् मुस्कराकर उत्तर दे देती।

कभी-कभी मेरा मन करता, 'उससे बातचीत करूँ', किन्तु दिलीप का अहं बीच में दीवार बनकर खड़ा हो जाता। कालिज में एक आर्डर मिला—'अब तक जितने भी चित्र छात्राओं ने परीक्षा में दिखलाने के लिए बनाए हैं, उन्हें दुबारा बनवाया जाय।' कालिज का वार्षिक उत्सव समीप आ रहा था। उसके उपलक्ष में कालिज-भवन और लॉन का एक चित्र बनाने की फरमाइश, मेरे सब साथियों ने की। मेरे काम में यह एकाएक वृद्धि क्यों हुई, इसका रहस्य मैं कुछ भी न समझ सकी।

मैं कालिज के घंटे समाप्त हो जाने के बाद चित्र बनवाती। सन्ध्या को घर लौटती तो अन्धेरा हो जाता, सड़कों पर बिजली का प्रकाश होता। एक दिन सन्ध्या को मैं घर आ रही थी, कि रास्ते में ही बादल छा गए। फुहार भी पड़ी। मेरे बाल गीले हो गए, साड़ी भी गीली होकर शरीर से चिपक गई। मैं घर पहुँची तो देखा, ड्राइंग-रूम में दिलीप बड़े सहज भाव से बैठा सिगरेट पी रहा है।

"बहुत देर हो जाती है आपको कालिज में ही।"

मैं थकी हुई थी, मेरे सिर में कुछ दर्द भी था, तिस पर वर्षा और सर्दी।

"आप ही का दिया हुआ काम करती रहती हूँ इतनी देर तक।"

दिलीप मेरे मुख की ओर देखने लगा। मैं वहीं पास के दूसरे सोफे पर बैठ गई।

"देखिये, मुझसे बिगड़ना हो तो फिर बिगड़ लीजिएगा, पहले कपड़े…"

"मैं अभी बदलकर आती हूँ।" मुझे ध्यान ही न रहा था कि मेरी साड़ी इतनी गीली है।

मैं कपड़े बदलकर आई तो नौकर चाय रख गया था। मैंने पूछा—"आपने कैसे कष्ट किया आज ?"

"यही पूछने आया था कि तुम कैसी हो ?"

"ओह धन्यवाद, कालिज तो मैं रोज जाती ही हूँ।"

"सो तो मैं भी देखता हूँ।"

"तो।"

"रोज करुणा पूछती है कि तुम कैसी हो ! घर पर तो बातें होती ही हैं।"

(वह दो दिन के लिए तारादेवी गई है, अपने स्कूल की अध्यापिकाओं को लेकर। शायद वहाँ कोई शारीरिक व्यायाम का जलसा हो रहा है।"

"हाँ कह तो रही थीं कि जायँगी।"

दिलीप ने सिगरेट का एक लम्बा कश खींचकर धुआँ आसमान की ओर फेंका।

"क्या बहुत थक गई हो ?"

"नहीं विशेष तो नहीं, पर···।"

मैं चुप हो गई। इससे अधिक बोल नहीं पाई।

"तुमने शिमला तो अच्छी तरह देखा नहीं है, चलो तुम्हें घुमा-फिरा कर दिखा लाऊँ।"

"कब ?"

"जब भी तुम कहो। कल रविवार है, कल ही चलेंगे।"

मैं चुप रही, क्योंकि मैंने सोचा था कि रविवार को एक चित्र अपनी ओर से बनाकर कालिज को भेंट करूँगी।

"तुमने जवाब नहीं दिया ?"

"मैंने तो सुना है कि आपको सैर के लिए किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती और आप किसी को अपने साथ ले जाना भी नहीं चाहते।")

"यह सच है, पर मैं मनुष्य ही तो ठहरा। अपने विचार बदल भी तो सकता हूँ।"

मैं खिलखिला पड़ी। विजय के उल्लास से नहीं, दिलीप की बात से। मुझे राजकुमार की कही हुई यह बात याद आ गई, 'तुम चाहो तो किसी का जीवन बदल दो, नीना!'

"क्यों हँस रही हो ?" दिलीप पूछ रहा था।

"क्यों, हँसूँ न ?"

"तुम पागल हो," दिलीप ने कहा।

"सच है।"

दिलीप गम्भीर हो गया। इसके बाद बात करना उसका अहं सहन नहीं कर सकता था। वह खिड़की के पास खड़ा हो गया, जो शायद उस समय बन्द थी। उसने खिड़की खोल दी। किन्तु फिर बन्द कर देनी पड़ी। अचानक बिजली चमकी और इधर हमारे घर की बिजली फेल हो गई।

(दिलीप सोफे पर बैठा रहा। अन्धकार चारों ओर। हमारे पास-पड़ोस के घरों में भी अन्धकार था। मैंने नौकर से मोमबत्ती लाने को कहा। पर वह घर में नहीं थी। नौकर दिलीप के घर से माँगकर लाया। कमरे के बीचों-बीच एक मेज रखी थी, उसी पर मोमबत्ती जलाकर रख दी। मोमबत्ती के प्रकाश में दिलीप की लम्बी-सीधी नाक और बड़ी-बड़ी आँखें अत्यन्त कोमल लग रही थीं। मुझे अँग्रेज़ी के उपन्यास में पढ़े हुए उस

नायक का खयाल आ गया।

"क्या देख रही हो नीना !"

मैं उत्तर नहीं दे सकी। दिलीप मुझे पहली बार 'नीना' कहकर पुकार रहा था।

"नीना, यह अन्धकार; और उसमें इस मोमबत्ती का सुन्दर प्रकाश, क्या तुम गाना सुनाओगी ?"

मैं गाने लगी। अन्धकार से प्रकाश हो गया।

"नीना, बन्द करो गाना, मैं अब और न सुन सकूँगा। बस करो।"

मैं हैरान हो गई। मुझे बहुत क्रोध आया, पहले कहता है 'गाओ', अब कहता है 'बन्द करो'। मेरी इच्छा का कोई मूल्य नहीं, जैसे मैं इसकी दासी हूँ। मुझे यह बात बहुत चुभी। मैं दिलीप को वहीं छोड़कर सोने के कमरे में चली गई और बिस्तर पर लेटकर सिसकने लगी। दिलीप चला गया। उसने घर जाकर टेलीफोन किया। टेलीफोन नौकर ने ही रिसीव कर लिया। उसने नौकर के हाथ कहला भेजा कि मैं टेलीफोन तक आऊँ, वह बात करना चाहता है। पर मैं नहीं गई।

दूसरे दिन फिर सुबह टेलीफोन आया।

"देखो, रात तुम मुझे गलत समझ गई।"

मैं चुप रही, 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं बोली।

"नीना···नीना सुन रही हो न !"

"हुँ।"

"मैंने तो तुम्हें इसलिए गाना बन्द करने को कहा था···"

"किसलिए ?" शायद मेरी आवाज अधिकारपूर्ण थी,

और जरा कर्कश भी।

"मुझे गाना बहुत अच्छा लग रहा था, तुम ऐसे ही स्वर में गा रही थीं। तिस पर बिजली का प्रकाश हो जाने पर मैं तुम्हारे चेहरे के भाव भी देख रहा था। ओफ़, तुम बच्ची नहीं हो नीना!"

दिलीप की आवाज़ में करुणा थी, याचना थी।

रात-भर बरसने के बाद आकाश स्वच्छ दिखलाई दे रहा था। निर्मल आकाश को देखकर और दिलीप की याचना सुनकर मेरा हृदय पिघल गया। मैंने उसको ऐसा कोई उत्तर न देना चाहा जो उस पर आघात करे।

"नीना···!"

"जी!"

"ओह, नीना तुम बहुत अच्छी हो। संजोली की सैर को चलोगी?"

"यह संजोली कितनी दूर है?"

"दो-ढाई मील होगी, तैयार हो जाओ।"

"अच्छा।"

दिलीप ने टेलीफोन रख दिया।

मैं तैयार होने लगी, मेरे मन में द्वन्द्व चल रहा था, यह कैसा व्यक्ति है। लोग इसे घमंडी, गर्वीला और न जाने क्या-क्या कहते हैं, कॉलिज में मेरी साथिनें भी प्रायः इसकी बातें करके हँसी उड़ाया करती हैं, मानो इस पर हँसना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार हो।

मै यहाँ आई थी यह सोचकर कि वहाँ पहाड़ हैं, सुन्दर दृश्य होंगे, कुछ चित्र बनाऊँगी, उन्हें बेचकर पैसा जमा

करके इंगलैंड चली जाऊँगी। यहाँ आए दस-बारह दिन हो गए हैं, परन्तु अभी तक एक भी चित्र नहीं बनाया। बनाने को मसाला तो बहुत है। एक चित्र अपनी इस दूध वाली का बनाऊँगी, पहाड़ों से घिरी इस घाटी में एक छोटी-सी फूँस की झोंपड़ी और फिर यह दूध वाली।

चित्र की भावनाएँ एक-एक करके आती रही थीं। अभी उन्हें आकार न दे पाई थी। उस दिन फिर मैंने काली साड़ी और काला ब्लाउज़ पहना। काली चूड़ियाँ अभी भी मेरी कलाई में थीं। दिलीप के पास चाय का थरमास था और एक थैला भी; जो उसने अपने कंधे पर लटका रखा था। उसमें शायद कुछ खाने को था।

"नीना, तुमने मुझे अभी तक अपने विषय में कुछ नहीं बतलाया?"

"आपने पूछा ही कब है?"

"मैंने पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझी। जितना तुमको देखा उतना ही ठीक लग रहा है।"

दिलीप ने मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में भी राज की-सी भावना थी।

"तुमने कभी मेरी बात भी तो नहीं जाननी चाही, केवल जो लोगों ने कहा, तुमने सुन लिया और उस पर ही सन्तोष कर लिया।"

यह दिलीप कह रहा था, यह क्या हुआ दिलीप को··· वह मेरे इतने निकट क्यों आना चाहता है, इसकी पत्नी है, और बच्ची है, मेरे पास राज है, मैं भी तो इसके अत्यन्त निकट जाना चाहती हूँ, राज और दिलीप दोनों में कितनी

समानता है। दिलीप राज से कोमल है। स्वभाव में भी, और व्यवहार में भी।

"मैं आपसे डरती हूँ कि कहीं आप नाराज न हो जायँ। न जाने मैं क्या कह बैठूँ ?"

"मैं तुमसे नाराज न हो सकूँगा नीना !"

"अधिक नहीं चला जाता अब, आओ यहाँ बैठ जायँ।"

"अभी तो हम एक मील भी नहीं आए होंगे।" दिलीप बैठ गया। मैं भी वहीं बैठ गई। उसने थरमास के ढक्कन में चाय उँडेली और पी गया। बाद में मुझे भी दी।

"माफ़ करना नीना, मैं पहले पी गया और तुम्हें बाद में दे रहा हूँ।"

"नहीं, आपको तो प्यास थी, आपने पी ली, अच्छा ही किया।"

मैंने भी उसी ढकने में चाय पी ली, उसे धोने का प्रबन्ध तो था नहीं। मेरे पीने के बाद दिलीप ने एक बार और पी और मेरी ओर देखकर मुस्कराया। न जाने मेरा मुँह क्यों लाल हो गया था। मैं स्वयं अनुभव कर रही थी कि दिलीप सिगरेट पीता जा रहा था और ध्यान से मेरी ओर देखता जा रहा था।

"नीना, एक महान् लेखक का कहना है, कि मनुष्य को जीवन में तीन बातें अवश्य करनी पड़ती हैं।"

"कौन-कौन-सी ?"

"'एक पुस्तक अवश्य लिखनी चाहिए।' वह तो शायद मैं कर पाऊँ, 'एक मकान अवश्य बनवाना चाहिए', वह नहीं कर पाऊँगा। 'एक दूसरी स्त्री के साथ जरूर भागना चाहिए।

मुझे हँसी आ गई।

"तीसरी बात के साथ आपने कुछ नहीं लगाया। आप इसे कर सकेंगे या नहीं इस सम्बन्ध में आपने अपनी कोई राय नहीं दी।"

दिलीप ने मेरी आँखों में देखते हुए उत्तर दिया, "वह बहुत-कुछ तो दूसरे व्यक्ति पर निर्भर करता है न।"

"आज आप कैसी बातें कर रहे हैं?"

"जैसी तुम सुन रही हो।"

"करुणा वहन सुनेंगी तो उन्हें बुरा न लगेगा क्या?"

"उन्हें किस बात का बुरा लगेगा। मैं उनकी प्रत्येक माँग को पूरा करता हूँ। और उनके अधिकारों से भी उन्हें कभी वंचित नहीं रखता।"

"अधिकार और माँगों की पूर्ति से ही तो जीवन पूर्ण नहीं हो जाता। और न ही उससे वह तृप्ति मिलती है, जो एक सुखी जीवन के लिए आवश्यक है।"

दिलीप क्षण-भर तक सोचता रहा।

"नीना, करुणा और मेरे दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। हम दोनों के विचारों में कहीं भी समानता नहीं।"

"आपने विवाह तो अपनी इच्छा से किया था न?"

"हाँ इच्छा भी कह सकती हो। पर थी एक तरह की मजबूरी।"

"क्यों, मजबूरी कैसी?"

लम्बी साँस ली दिलीप ने।

"करुणा एक अच्छी लड़की है, कर्मशील है, और किसी को भी अवश्यकता पड़ने पर सहायता कर सकती है। पति-

परायणा भी है वह, पर इससे अधिक कुछ नहीं।"

"इससे अधिक क्या हो? आखिर आप चाहते क्या हैं पत्नी से?"

"जीवन चलता है, पर वैसे ही जैसे रेलगाड़ी लम्बी.... और लम्बी पटरी पर निरन्तर चलती है, कोई नवीनता नहीं। करुणा के जीवन में भी वही नीरसता है। वह समझती है, दाल-रोटी को छोड़कर मेरी आवश्यकताएँ और कुछ हैं ही नहीं।"

दिलीप इतना गम्भीर और उदास था कि मैं हँसना चाहते हुए भी न हँस सकी मैंने सोचा, 'यह मुझे कितनी हृदयहीन समझेगा।'

"करुणा आपकी दूसरी आवश्यकताओं का खयाल न करती तो बेबी कहाँ से आती?"

"ओह, नीना, शारीरिक भूख ही तो सब-कुछ नहीं। मानसिक भूख भी तो कोई चीज है।"

मैं चुप हो गई मानसिक भूख की दुहाई देने वाले बहुत-से हैं, केवल दिलीप ही नहीं। दिल्ली में मिस्टर सिनहा कह रहे थे, 'जीवन में पेट की भूख सहन हो सकती है, किन्तु मन की नहीं।' मिस्टर सिनहा रेलवे में एक अफसर हैं। हजार-बारह सौ रुपया कमाते होंगे। उन्होंने पेट की भूख को कब देखा होगा, केवल मन की ही देखी है। यह मन की भूख शिक्षा के प्रचार से बढ़ी है। जब मानसिक विवेचन की शक्ति बढ़ती है

तब मनुष्य केवल अपने मन की बात किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति से करना चाहता है, जो उसे समझने की शक्ति रखता हो। गोरी-गोरी, भूरी-भूरी आँखों वाली करुणा और यह दिलीप, कल्पना की दुनिया में विचरने वाला।

"नीना, क्या सोचने लगीं तुम, चलो जरा आगे चला जाय, संजोलो देख ही लो। तुम्हारे शब्दों में वह सुन्दर जगह है।"

मैं मुस्करा पड़ी।

"नीना, तुम मुस्कराती बहुत अच्छा हो।"

राजकुमार ने भी ठीक ऐसी ही बात कही थी, हम लोग लाहौर के कॉफी-हाउस में बैठे हुए थे तो राज ने कहा था, 'नीना तुम मोनालिसा की तरह मुस्कराती हो, पर मैं चाहता हूँ कि काम तुम जोन ऑफ आर्क की तरह करो।'

राज बातें खूब अच्छी करता था। आज हमारा समाज राज और दिलीप-जैसे व्यक्तियों से भरा पड़ा है। दिलीप की आकांक्षा क्या है, यह तो मैं समझती नहीं। जितना मैं जान पाई वह यह थी कि वह दिन-रात सोचा करता है, जैसे राज सोचा करता था। क्या सोचता है, यह मैं अभी तक नहीं समझ पाई, कभी पूछा भी नहीं।

आज पहले दिन ही उसने अपनी निजी बात कही है।

हम लोग चल रहे थे। सूर्य कभी बादलों के पीछे चला जाता और कभी सामने आ जाता था। कल रात जो वर्षा हुई थी, उससे जमीन अभी गीली थी, धूप भी अच्छी तरह नहीं निकली थी। हम लोग उस पहाड़ी सड़क से पक्की कोलतार की सड़क पर आ गए। बाएँ हाथ पहाड़ था और दाएँ हाथ ढलान के कुछ ऊपर एक लकड़ी का चबूतरा बना था, जिस पर हरा पालिश था। दिलीप का मन हुआ कि वहीं बैठ जायँ। मैं भी कुछ थक गई थी। गीली और सीली सड़क पर से चलकर हम आगे आए थे। खुली सड़क पर से गीली सड़क पर चलने में अधिक परिश्रम पड़ता है।

दिलीप ने इतनी बात की तो मुझे भी लग रहा था कि मैं अपनी बात कहूँ। कम-से-कम दिलीप से यह तो पूछ ही लूँ कि तुमने जो बने-बनाए चित्र दोबारा बनवाने के लिए कहा है यह किसलिए?

मैंने पूछा, "सुनिये, एक बात पूछना चाहती हूँ?"

"हाँ, पूछो!"

"यह आपने क्यों चाहा कि जो चित्र पहले तैयार है उनको फिर से बनाया जाय।"

दिलीप मेरे मुख की ओर देखता रहा।

"सच जानना चाहती हो या झूठ?"

"दोनों।"

"तुम वास्तव में चतुर हो। दोनों जाँच कर, सत्य अपना निर्धारित करोगी ?"

"बतलाइये न !"

"मैं चाहता था कि चित्र और अच्छे बनें।"

"आप जानते हैं कि जो चित्र बने हुए थे वे बुरे न थे।"

"हाँ यह तो जानता हूँ। मैं यह देखना चाहता था कि तुम कितना काम कर सकती हो ?"

"यह भी कोई कारण नहीं था।"

"तुम बताओ, क्या कारण है ?"

"यही होता तो आपसे क्यों पूछती।"

"कितने चित्र बना चुकी हो ?"

"दूसरी बार ?"

"हाँ, दूसरी बार।"

"लगभग सब, एक-दो रह गए हैं।"

"पहले से अच्छे बने हैं ?"

"मुझे तो विशेष अन्तर नहीं दिखलाई देता, पर प्रिन्सीपल की आज्ञा है; किया भी क्या जाय ?"

"हुँ, तुम मना भी कर सकती थीं।"

"शुरू से ही न।"

"क्यों नहीं, मुझे यदि ऐसी पागलपन की आज्ञा मिलती तो शायद मैं न करता। प्रिन्सीपल को समझाने का प्रयत्न करता। वह न मानता तो देखता क्या करता।"

"तो क्या आपने यह आज्ञा इसलिए दी थी कि मैं न मानूँ ?"

"मैं यह देखना चाहता था कि तुम मुझे समझी हो या

नहीं।"

मेरे मुख से अनायास निकल गया, "नहीं समझी !"

"तभी तो........"

"बोलो, तुमने यह अत्याचार क्यों सहन किया ?"

"आपकी आज्ञा जो थी, उसे कैसे टालती ?"

"मैं तो तुम्हें दण्ड दे रहा था।"

"वह किसलिए ?"

"बस जी चाहता था।"

("शायद मैंने यहाँ आकर आपके सुखी जीवन में ज़रा-सी कड़वाहट पैदा कर दी है।"

"नहीं, कड़वाहट नहीं, दिलचस्पी कहो, नीना !")

बातों में हमें कुछ भी पता नहीं चला और न जाने बादल कब बरसने लगे थे। वर्षा के कुछ छींटे हम तक पहुँच रहे थे। बादल गरजे और बिजली चमकी।

"देखिये, बिजली चमक रही है। वह काली वस्तु पर पड़ जाती है, यह काली साड़ी बिजली ज़रूर बुला लायगी।"

"साड़ी तो काली है, पर यह मुख..."

"क्या हो गया है आज आपको ?"

"तुम अपने से ही पूछो नीना !"

मैं चुप हो गई।

ठीक ऐसी ही एक दोपहर को मैं और राज काश्मीर में अकेले एक छोटे-से रेस्तराँ में बैठे थे, जहाँ बहुत कम लोग

आते थे। वहाँ हरी काश्मीरी चाय, छोटी इलायची और बादाम से भरी मिलती। हमें यह रेस्तराँ केवल इस बात के लिए पसन्द था कि वहाँ लोग बहुत कम आते थे। वहाँ फिल्मी रिकार्ड नहीं बजते थे। मैं और राजकुमार बैठे थे। बहुत-से विषयों पर बातें होती रहीं। काश्मीरियों की निर्धनता और सौन्दर्य से लेकर काश्मीर के उत्पादन तक। राज लगातार मेरी ओर देख रहा था।

'क्या देख रहे हो राज ?' मैं बोली।

'यही कि तुम इतनी सुन्दर हो।'

वहाँ चाय की छोटी-सी मेज पर राज ने मेरा हाथ दबा दिया था।

(मैंने देखा, ठीक वही हाथ अब दिलीप के हाथ में है। यह दिलीप भी तो बहुत आकर्षक है। राज से अधिक। नहीं राज इससे अधिक है। राज दूर होते हुए भी पास है, और दिलीप पास होते हुए भी दूर।)

मेरे मुख पर भावों का धूप-छाँही आवेग था।

दिलीप ने मेरा हाथ छोड़ दिया और बोला—"क्षमा करना नीना !"

मैं चुप रही, कुछ बोल नहीं सकी। दिलीप ने सिगरेट जला ली थी।

मैं सीता-सावित्री होने का दम नहीं भर सकती। मेरे ही कारण राजकुमार और मोनेश-जैसे घनिष्ठ मित्रों में मन-

मुटाव हो गया था। मोनेश गांधीवादी होते हुए भी राज का मित्र था। एक दिन भोले मोनेश ने मेरा हाथ पकड़कर कहा था, 'नीना, तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो।'

मुझे यह सुनकर हर्ष हुआ था, क्योंकि मोनेश की हमारी पार्टी में सब पूजा करते थे। सब उसे महान् समझते थे। मोनेश अनार्किस्ट से सत्याग्रही बना था। राज ने जब यह सब देख लिया तो मुझे बहुत बुरा-भला कहा, 'तुम हमारी पार्टी में आना छोड़ दो। इस किस्म का तूफान लाने के लिए तुम ज़िमेदार हो।'

मुझे तब बहुत बुरा लगा था, इसी पार्टी की सदस्या होने के लिए मैंने माँ को नाराज़ किया और पिता को सदा के लिए चिन्तित कर दिया था। 'मैं पार्टी छोड़ दूँ, उँह किस लिए!'

मोनेश और राज में इसके बाद मैत्री नहीं हो सकी। हम में से भारती ने राजनीतिक पार्टी छोड़कर विवाह कर लिया था। जमाल फौज में भर्ती हो गया था। वहीद और राज जैसे-तैसे कर्तव्य-पालन कर रहे थे कि विभाजन हो गया। मुझे कभी-कभी मोनेश की याद आ जाती, वह खादी की धोती, खादी का कुर्ता और चप्पल पहना करता। दूसरे सब लड़कों के ठाठ के कपड़े होते थे।

"आओ, नीना, लौट चलें!"

जब मैं उठी तो देखा दिलीप की आँखों में बड़ी प्रगाढ़ व्यथा की छाया है। मुझे मन-ही-मन ग्लानि हुई।

"जरा रुक जाइए, वर्षा थम जाने दीजिए।"

"वर्षा शायद जल्दी न थमे। लो, यह थोड़ी-सी चाय और है; तुम पी लो।"

"नहीं आप ही पी लीजिए।"

हम दोनों ने चाय पी, उसी थरमास के ढक्कन में। उस दिन और कोई बात नहीं हुई दिलीप से। वैसे मेरा मन करता था बहुत-सी बातें करूँ। उसे अपने बचपन की कहानी सुना दूँ। उसे बतला दूँ कि राज उससे कितना मिलता-जुलता है। उस दिन घर पहुँची तो बहुत थक चुकी थी।

———

# छः

उस दिन दिलीप के साथ संजोली की सैर तो नहीं हुई, परन्तु दिलीप के व्यक्तिगत जीवन के बारे में बहुत-कुछ पता चल गया। मुझे लगा कि दिलीप की आत्मा भी भटकती हुई है, मन भी वातावरण से क्षुब्ध झुँझलाहट से भरा हुआ है। कालिज-भर में शायद इसके जीवन के इस रूप को कोई न जानता हो, क्योंकि उसका अहम् बीच में दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। अहम् गुण न होते हुए भी कई बार हमें विषम परिस्थितियों से बचा लेता है, क्योंकि वह हमारे रहस्य नहीं खुलने देता।

उस दिन से जब मैं एकान्त में बैठती हूँ, तो मुझे एक आन्तरिक सन्तोष होता है। दिलीप में और मुझमें किसी एक स्थल पर समानता है। वह अपने ऊपर अहम् का आवरण रखता है; मैं मुस्कान का, हँसी का, और आवश्यकता आ पड़ने पर कहकहे का।

राज ने भी एक बार कहा था, 'नीना, जब तुम मुस्कराती रहती हो तो मैं सोचता हूँ सब बात ठीक है, जब तुम हँसती हो तो मुझे सन्देह होने लगता है, और जब तुम कहकहा लगाती हो तो मेरा मन तुम्हारे अज्ञात दुःख से काँप उठता है।'

तब मैं इन बातों को न समझती थी, शायद बुद्धि को यह बातें भाती थीं, पर मन इनमें दिलचस्पी न लेकर इधर-उधर की बातें सुनने को उत्सुक रहता था। राज की एक और बात, जो दिलीप के साथ इस मुलाकात के बाद मुझे याद आ रही है, वह है, 'नीना, संसार में अपना व्यक्तित्व ही सब-कुछ है, जो व्यक्ति को ही केन्द्र मानकर चलता है और संसार की सब वस्तुओं को अपने सुख का साधन मानता है वह सुखी रहता है। "स्वार्थ में सुख है' यह केवल मुझसे राज ने ही कहा था।

मैं जितना भी दिलीप के विषय में सोचती, मुझे राज की बातें याद आ जातीं।

एक दिन मैं कालिज के वार्षिक उत्सव के लिए चित्र बना रही थी। चित्र समाप्त हो चला था। उसमें जहाँ-तहाँ रंग भर रही थी कि दिलीप और करुणा आ गए। चित्र बनाते समय मैं केवल पेटीकोट और ब्लाउज़ ही पहनती हूँ, साड़ी अलग रख देती हूँ, उस पर एप्रेन पहनती हूँ, ताकि रंग आदि मेरे कपड़ों पर न लगे। उस समय भी मैं एप्रेन पहने हुए थी।

उन्हें दोनों को आया हुआ देखकर मैंने चाहा कि काम छोड़ दूँ और उनके पास जा बैठूँ, कपड़े बदलकर।

पहले करुणा बोली—"नीना, रहने दो हम लोग कोई पराए हैं, तुम काम करती चलो। बीच में छोड़ देने से बाधा पहुँचेगी।"

मैंने दिलीप के मुख की ओर देखा, वह भी मुस्करा पड़ा।

करुणा बोली, "देखिये किस फुर्ती से इसका हाथ, ब्रुश से काम ले रहा है, बिलकुल प्रोफैशनल।"

दिलीप ने एक लम्बी 'हुँ' की। फिर खिड़की में से बाहर झाँकते हुए उसने कहा—"आप शायद जीवन में चित्रकार बनना चाहती हैं।"

"जी हाँ।" मेरा छोटा-सा उत्तर था।

"एक नारी के लिए अपने जीवन का ध्येय बना लेना खतरे से खाली नहीं।"

करुणा ने मानो मेरी ओर से पूछा—"वह क्यों?"

"डी० एच० लॉरेंस ने कहा है—'आफ ऑल थिंग्स, दी मोस्ट फेटल टू ए वुमन इज़ टू हैव एन एम एण्ड टू बी कॉंकश्योर अबाउट इट।"

"डी०एच० लॉरेंस आपकी ही भाँति पुरुष था", मैंने उत्तर दिया।

करुणा खिलखिला पड़ी।

दिलीप की आँखें मुस्करा रही थीं।

"भगवान् का धन्यवाद, आप बोलीं तो। हम सोच रहे थे शायद चित्र की खुशी में हमारे साथ बातें भी नहीं करेंगी।"

"चित्र बनाने की प्रसन्नता तो होती ही है।"

करुणा बोली, "देखो नीना, मैं तो तुम्हें न्योता देने आई हूँ। 'सेसिल' में आज उत्सव है, मेरा भाई जाना चाहता है, उसने एक टेबिल भी बुक करवा ली है। देखो, मना मत करना। अभी तो छः बजे हैं, शाम के नौ बजे वहाँ चलेंगे।

मैं हँस पड़ी, "आप तो हुक्म देने आई हैं, न्योता नहीं। खैर जब आप टेबिल रिजर्व करवा हो चुकी हैं तो मैं आपको निराश नहीं करूँगी। क्या चौधरी साहब भी चलेंगे?"

करुणा मुस्करा दी, "मैं तो पाँच साल से इन्हें नहीं ले जा पाई हूँ, यदि तुम्हारे कहने से चलते हैं, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मैं तुम्हारा लोहा मान जाऊँगी।"

मैंने दिलीप की ओर देखते हुए प्रश्न किया, "क्या आप चलेंगे?"

"आप कहकर तो देखिए शायद चला जाऊँ, आखिर मैं भी देखूँ कि वहाँ कौन-सी वस्तु है जो हमें बार-बार खींचकर ले जाती है।"

करुणा क्रोध-भरे स्वर में बोली, "बस इस सफाई की जरूरत नहीं। नीना जा रही है, आप वैसे ही आ जाइए।"

मेरा मुख लाल हो उठा।

"करुणा जीजी, आप अन्याय कर रही हैं।"

करुणा हँसकर बोली, "नहीं, नीना, तुम मेरी बहन हो, उसमें क्या है, यह किसी तरह खुश रहें, यही मेरी इच्छा है, और यही मेरी कोशिश रहती है।"

मैंने देखा करुणा की भूरी-भूरी आँखें ग़मगीन हो गईं। मुझे नारी के इस रूप पर आश्चर्य हुआ। करुणा-जैसी शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नारी का एक यह रूप भी है!

दिलीप ने करुणा की ओर देखा, "पागल हुई हो करुणा, तुमने पहले कभी मुझे वहाँ जाने के लिए ज्यादा जोर भी तो नहीं दिया था।"

"मुझे आप बहुत-सी बातें कहने पर मजबूर कर रहे हैं, जो मैं शायद वैसे न कहूँ। रहने दीजिए, चलिए घर चलें नीना को काम कर लेने दें।"

दिलीप ने सिगरेट जमीन पर फेंककर पाँव से मसल दी। वह दोनों चले गए। मैं न जाने क्यों मन-ही-मन झुँझलाने लगी। मुझे बहुत बुरा लगा। दोष किसको दूँ, दिलीप को, करुणा को या……।

मुझे लगा, 'दिलीप और करुणा-सरीखे पति-पत्नी और भी बहुत-से होंगे। हमारी शिक्षा का इसमें अधिक दोष नहीं। मेरा मन तो नहीं कर रहा था, पर मैंने जल्दी-जल्दी से इधर-उधर रंग भरे और तस्वीर को वहीं छोड़ दिया।

बातचीत दिलीप और करुणा में हुई। भला मुझे क्यों बुरा लग रहा है। मुझ पर भी तो आघात किया है करुणा ने। मैं अवश्य जाऊँगी 'सेसिल'। दिलीप यदि मेरे कहने से ही जा रहा है तो इसमें क्या बुराई है। मैं अपने सोने वाले कमरे में आ गई। खिड़की में से बाहर देखा, अन्धकार बढ़ चुका था। बिजलियाँ झिलमिला रही थीं। मैं कुर्सी पर बैठ गई। साड़ी कौन-सी पहनूँ, राज यद्यपि यहाँ नहीं है, परन्तु राज की पसन्द की साड़ी अवश्य होनी चाहिए। राज की पसन्द को दिलीप भी पसन्द करता है। तो क्या मैं अपने से यही प्रश्न पूछ रही थी।

मुझे राज ने पैरिस से एक श्वेत गाउन भिजवाया था,

जिसे मैं आज तक न पहन सकी थी। जब आया था तो एक बार अपने कमरे के किवाड़ बन्द करके सिर्फ यह जानने के लिए ही पहनकर देखा था कि वह अच्छी तरह से पूरा है या नहीं। सोचा, आज उसे ही क्यों न पहन लूँ। बड़े परिश्रम से मैंने अपने बालों का ऊँचे ढंग का जूड़ा बनाया, वह श्वेत गाऊन पहना और उसके साथ ही सफेद मोतियों की माला। वह राज ने पैरिस से भेजी थी। कानों में हीरे के टाप्स। जब मैं तैयार हो गई, तो शीशे में देखा। शीशे में जब मैं अपने-आपको अच्छी लगती हूँ तो न जाने क्यों मेरा मन उदास हो उठता है। घड़ी में देखा। वही छोटी-सी अमरीकन घड़ी, मेरी साथिन। उसमें केवल आठ बजे थे। अभी तो एक घण्टा और है। मैं बैठी रही। तरह-तरह की बातें मेरे मन में आती रहीं। दिलीप और करुणा दोनों ही मेरे जीवन से किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित हो गए थे। दिलीप की आँखें मुझे राज की याद दिलातीं। राज का अहम् कुछ चंचलता और उत्सुकता लिये हुए था और दिलीप का विषाद से घिरा हुआ। दिलीप अपने अहम् से खुश भी है, और नाखुश भी। दिलीप अपने वातावरण से सन्तुष्ट नहीं, इसीलिए विद्रोह चाहता है। सन्तुष्ट तो मैं भी नहीं। अपने से नहीं, अपनी परिस्थितियों से भी नहीं। शायद हो सकता है जब तक मनुष्य अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट रहे, तब तक ही वह जीवन में कुछ कर पाता है, नहीं तो गति रुक जाती है।

मैं अपने विचारों से उस समय जागी जब करुणा मुझे बुलाने आई। वह मेरी ओर देखकर बोली, "ब्यूटीफुल, चल जल्दी, देर हो रही है।"

मैं एकदम यह अनुभव करने लगी कि करुणा ने मुझे अपने कपड़ों के प्रति सचेत कर दिया है। करुणा स्वयं भी तो सुन्दर लग रही थी। वह कामदार सफेद जार्जेट की साड़ी पहने हुए थी।

हम लोग घर से नीचे उतरे तो करुणा ने रिक्शा में बैठने का प्रस्ताव किया, जब मैं सहमत नहीं हुई तो वह बोली, "क्यों, तुम रिक्शा में न बैठकर उन लोगों का उपकार नहीं कर रही हो। यह तो उन बेचारों की आजीविका का साधन है, तुम-जैसे लोग इसे प्रोत्साहन न देंगे, तो यह लोग भूखे मर जायँगे।"

मैं दिन-भर चित्र बनाती रही थी, इसलिए थकी भी थी। चुपचाप रिक्शा में बैठ गई। शिमला में रिक्शा को तीन आदमी खींचते हैं, एक सामने रहता है, दो पीछे से धकेलते हैं। तीन आदमियों पर बोझ बनकर चलना मुझे कुछ जँचा नहीं, पर 'सेसिल' मे पहली बार जाने की खुशी में मैं सब-कुछ भूल गई। यह कहना तो झूठ होगा कि मुझे 'सेसिल' से या अन्य बड़े-बड़े होटलों से नफरत है। में बचपन से ही इन होटलों को देखती आई हूँ। फिर राज से मिलना तो इन्हीं छोटे-छोटे होटलों में, बड़े होटलों में होता था। मुझे कभी-कभी मनोरंजन के लिए जाना बुरा नहीं लगता। नहीं, यह भी झूठ है। जब मैं यह अनुभव करने लगूँ कि मुझे कुछ लोग अवश्य देखें, तो मैं होटल में चली जाती हूँ। आत्म-प्रदर्शन की यह भावना शायद दूसरी नारियों में भी हो। मैं तो अपनी ही बात कर रही हूँ। बाजार से पश्चिम की ओर जो दो-मंजिला मकान चमक रहा था वही 'सेसिल' था। वास्तव में

हल्का पीला था वह। यह होटल विदेशियों की स्मृतियों के खण्डहरों का सर्वोत्तम प्रतीक है।

'सेसिल' का डाइनिंग-हॉल बड़े करीने से सजा हुआ था। चार-छः-आठ व्यक्तियों के लिए अलग-अलग मेजें रखी हुई थीं। हम लोग अपनी रिजर्व टेबिल के पास रखी हुई कुर्सियों पर बैठ गए। करुणा के भाई ने शरबत, ह्विस्की और कुछ खाने को मँगवाया।

दिलीप भी साथ था, उसने मेरी ड्रैस पर कुछ नहीं कहा। मुझे डर लग रहा था कि वह कोई टिप्पणी न कर दे। करुणा का भाई भी गोरा, भूरी आँखों वाला था। वह बड़े ध्यान से मेरी हर एक माँग को पूरा कर रहा था। मैं शिमला की सभ्यता का यह रूप देख रही थी। अभी-अभी हम लोग तीन आदमियों के कन्धों पर लदे हुए यहाँ आए थे। यहाँ, जहाँ जीवन का चमकता हुआ वह रूप है, जिससे आँखें चकाचौंध हो जायँ। सभ्यता का यह रूप विदेशियों की देन है। मैं मन-ही-मन सोच रही थी कि यह एक बड़ी अच्छी देन है। मुझे तो अच्छा लग रहा था। Some defects in the story

आर्केस्ट्रा पर स्लो फ़ाक्स स्टैट की धुन बजी। करुणा के भाई केशव ने मुझे नृत्य के लिए कहा। मैंने स्वीकार कर लिया। राज के साथ मैं कभी डान्स पर नहीं गई थी। वह न तो स्वयं नाचता था और न ही उसे दूसरों का नाचना पसन्द था। मैं नाची। केशव का व्यवहार बड़ा सज्जनतापूर्ण था। डान्स समाप्त होने पर मैं मेज पर लौटी तो दिलीप की आँखें अनायास ही मेरी ओर उठ गईं। उसके ओठों की सिकुड़न कह रही थी कि वह मुझ पर व्यंग्य कर रहा है। मैंने अपना

शरबत का गिलास उठाया और एक साँस में पी डाला।

मुझे लगा कि दिलीप को मेरा यह नाचना बुरा लगा है। पर मुझे दिलीप से क्या। मेरा तो अपना व्यक्तित्व है, मुझे इससे क्या लेना है। मैंने अपना ध्यान दूसरी ओर लगाना चाहा। इतने में पुनः वाद्य संगीत बज उठा। करुणा अपने भाई के साथ नाचने गई। दिलीप ने सिगरेट जलाया और धुआँ आसमान की ओर फेंकते हुए कहा—"नीना, तुम क्यों नाचीं केशव के साथ ?"

"क्यों ?" मेरे मुख पर शायद क्रोध के भाव स्पष्ट थे।

दिलीप ने मेरी ओर ध्यान से देखते हुए सिगरेट का एक लम्बा कश खींचा और कहा—"कुछ नहीं, ऐसे ही पूछा है।"

"क्यों, आपको क्यों बुरा लग रहा है ?"

"नाचीं तुम और बुरा मुझे लगेगा ?"

मैंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। परन्तु इसके उपरान्त मैं नाची नहीं। सिर-दर्द का बहाना कर दिया। करुणा नाचती रही, मैं और दिलीप बैठे रहे। दिलीप ने बैरा से एक कागज-पेंसिल मँगवाकर मुझे एक चिट दिया। जिस पर लिखा था, 'यू आर वण्डरफुल, यू सिली गर्ल।'

इसके उपरान्त मेरा वहाँ बैठना असम्भव-सा हो गया। मुझे लग रहा था कि जैसे मन शरीर का आवरण तोड़कर बाहर आ जायगा। यह दिलीप क्यों मेरे साथ खिलवाड़ कर रहा है। इसकी पत्नी है, बच्चा है, ......मैं क्यों बुद्धू बन रही हूँ। क्या मैं दिलीप के साथ सम्पर्क नहीं छोड़ सकती। वह कौन-सी बात है जो मुझे उसकी ओर आकर्षित कर रही है। मन के न जाने कौन-से गहनतम स्थान को यह सुन्दर लगता है।

# सात

उस रात 'सेसिल' से लौटकर मैं बहुत अनमनी हो गई थी। मुझे दिलीप की बात माननी चाहिए थी या नहीं ? यही बात बार-बार मेरे मन में उमड़ रही थी। खैर जब मान ही चुकी थी तब इतना सोच-विचार क्यों ? मैं गाउन पहने हुए ही बैठी रही। जिस समय हम लोग घर पहुँचे ( दिलीप के फ़्लैट से पहले मेरा फ़्लैट आता था ) तब करुणा जाने से पहले कह गई—"नीना, तुम्हें मैं समझी नहीं, केशव भी नहीं समझा, आज शाम का मज़ा किरकिरा हो गया।"

मैं केवल इतना ही कह पाई थी—"आई एम सो सॉरी, इस सिर-दर्द ने मुझे कहीं का न रखा।"

मैंने अन्धकार में भी देखा था, दिलीप मुस्करा रहा था। उसकी मुस्कान से मुझे क्रोध क्यों नहीं आया ?

उस दिन पहाड़ी मेले में, काली चूड़ियाँ जब पहनी थीं, तब भी दिलीप के लिए मुझे कुछ इसी प्रकार का झूठ बोलना पड़ा था। और आज मुझे फिर झूठ बोलना पड़ा। करुणा तो उस दिन भी नहीं जान पाई थी, वह तो शायद आज भी न

जान पाय, परन्तु एक कर्तव्य भी तो होता है, अपनी आत्मा के प्रति ?

'मैंने ऐसा क्यों किया, आखिर क्यों किया ?' मैं अपने से यह प्रश्न बार-बार पूछती रही। केवल दिलीप की खुशी के लिए। दिलीप से मेरा ऐसा कौन-सा लगाव है। मैं राज के भेजे हुए कपड़े, उसका दिया हुआ हार पहनकर गई थी और यहाँ दिलीप की खुशी। छी.........मैं भी कितनी बदल रही हूँ, फिर करुणा, दिलीप की बेबी और......और राज। राज इस वर्ष परीक्षा देने वाला है, वह परीक्षा देकर शीघ्र लौट आयगा। तो मैं उसे क्या जवाब दूँगी—'राज, तुम्हारी जगह मैं दिलीप की मुस्कानों पर नाचती हूँ। मैं जोन ऑफ आर्क न बन सकी, राज ! पर......पर मैं क्या बनने जा रही हूँ। मैं किधर बह रही हूँ। दिलीप का अहम्। ओफ़ ! इस अहम् से मुझे घृणा है। 'सेसिल' में बैठे हुए बड़े ठाठ से हुक्म चला दिया था लाट साहब ने, तुम केशव के साथ मत नाचो। जैसे मैं इनकी लौंडी हूँ, बाँदी हूँ। मैं भला क्यों मान गई ?'

यह मेरे हृदय की दुर्बलता थी।

राज ने कहा था—'मोनेश से न मिलो।' मैंने मिलना छोड़ दिया था। 'कालेज में फ्रेंच मत पढ़ो।' मैंने फ्रेंच छोड़ दी थी। राज को फ्रेंच पढ़ाने वाले प्रोफेसर से घृणा थी। वह लड़कियों की तरफ बुरी तरह घूरता था। परन्तु मैं तो इस बात के लिए मशहूर थी कि मैंने कभी किसी की बात नहीं मानी,

चाहे माँ ही की क्यों न हो। यह मैं पतन की ओर नहीं अग्रसर हो रही ? एक व्यक्ति, जिसका मुझसे केवल पन्द्रह दिन का परिचय है, उसकी आज्ञा का पालन हो रहा है। यही बात मेरे व्यक्तित्व के लिए एक प्रश्न चिन्ह-सा बनकर रह गई थी।

मुझे स्वयं अपने से क्षण-भर के लिए घृणा हो गई। मैंने शीशे में देखा। फिर सूटकेस से राज का चित्र निकाला, जो बहुत दिनों से मैंने सुरक्षित रखा हुआ था। मुझे लगा राज भी घृणित है और दिलीप भी। माँ भी, करुणा भी और यह सारा वातावरण ही।

मैंने राज को पत्र लिखा—

"प्रिय राज,

तुम्हारा कोई पत्र नहीं मिला। शायद इसलिए कि तुम मुझ पर यह रौब डालना चाहते हो कि तुम परीक्षा की तैयारी कर रहे हो। तुम्हारी परीक्षा, तुम जानो। पास हो जाओगे तो तुम्हें लाभ होगा, मुझे उससे क्या ? मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि मुझे तो एक पत्र भी नहीं मिला। मुझे तुम्हारी यह बात बार-बार याद आती है कि संसार में व्यक्ति को केवल निजी व्यक्तित्व को लेकर ही चलना चाहिए, जितने सुख-सुविधा के साधन हैं, वह केवल अपने लिए ही जुटाने चाहिएँ और दुनिया को भूल जाना जाहिए।

मैं अपने साथ काम करने वाली एक साथिन को देखती हूँ। बेचारी (हमारी इस परिवर्तित अवस्था में दोष किसका

है ? तुम लोगों का या हमारा ? ) वह दिन-भर काम करती है। अपना गला फाड़-फाड़कर पढ़ाती है। स्वर बड़ी मुश्किल से निकलता है। पढ़ाते-पढ़ाते कइयों की तो जुबान भी मैकेनिकल हो गई है, वर्ष-पर-वर्ष वही चीज़; कुछ भी नया नहीं।

हाँ, मैं तो केवल अपनी साथिनों की बात कह रही हूँ। बेचारी थोड़ी-सी आय में, किसी तरह नकली जार्जेट की साड़ियाँ खरीदती हैं। सब जैसे-तैसे होता है। नए स्टाइल के बाल बनाने से भी नहीं चूकतीं। बहुतों की आँखों पर तो चश्मा भी लगा हुआ है। तीस के इस पार ही वह बूढ़ी दिखलाई देने लगती हैं। वह अपनी-अपनी खुशियों, अपनी-अपनी इच्छाओं को दबाकर अपनी आय में से जैसे-तैसे, किसी दूर की बहन, भतीजी या छोटे भाई को पढ़ा रही हैं। उन्हें अपना स्वार्थ बलिदान करने का शायद बहुत बड़ा पुण्य मिल रहा है, कम-से-कम दूसरे सब लोग तो यश प्रदान करते हैं, और कोई करे या न करे। और किसी की नहीं तो वह एक-दूसरे की नजरों में बड़ी हो जाती हैं।

पहाड़ों पर उगे हुए इन देवदारु के वृक्षों को देखकर उनके मन में यह कभी नहीं आता कि वह भी कभी किसी के साथ इनकी सैर करने जायँ, और वहाँ जाकर इनकी घनी छाया में कहीं खो जायँ।

अभीतुम जानते हो शिमला का वातावरण। यहाँ की सभ्यता दिल्ली से बहुत भिन्न है। यह शिक्षिता नारियाँ, मेरा तात्पर्य समझ रहे हो न, यह मेरी साथिनें (जो एम० ए० बी० टी० से कम कोई भी पढ़ी नहीं) एक क्षण के लिए क्यों न

हो, वह भी तो यह अनुभव करें कि वह इन्सान हैं और इन्सान होने का दावा कर सकती हैं। राज, मैं पूछती हूँ, क्या एक नारी को मनोरंजन का कोई अधिकार नहीं ? सभ्यता के इस युग में, पुरुष ने मनोरंजन के सब साधन अपने लिए रख लिए हैं, नारी को वैसा-का-वैसा ही विहीन रखा है। उसके हाथ प्रतिबन्धों की एक लम्बी सूची पकड़ा दी है।

राज, जानते हो इस समय रात्रि के दो बजे हैं, यानी दूसरे दिन की सुबह होने वाली है, मैं अभी तक क्षण-भर के लिए भी नहीं सो पाई। दिन-भर एक चित्र बनाती रही, हमारे कालिज का वार्षिक उत्सव हो रहा है, उसीके लिए मैंने यह चित्र बनाया है, जिसमें हमारे कालिज के भवन, लॉन और बाईं ओर दूर से झाँकती हुई हिमाचल-प्रदेश की छोटी-सी रियासत चित्रित है। चित्र सजीव उतरा है। तुम्हें उसका फोटोग्राफ भेजूँगी। मैं कितने पत्र लिखती जाऊँ, तुम्हें तनिक भी परवाह नहीं, अपने में मस्त हो।

कभी-कभी तो मैं सोचती हूँ राज, यह मेरा अन्याय है कि जो तुमको इतना बुरा-भला कह रही हूँ। तुम शायद बीमार होगे, कौन जाने, क्या बात है।

राज आज बादल नहीं हैं, तुम्हारे चिर प्रिय तारे निकले हैं। वह तारे, जो तुम्हें चाँद से भी प्रिय हैं। मुझे पन्त जी की यह पंक्तियाँ याद आ रही हैं :

मेरे कोमल भावों को
तारे क्या आज गिनेंगे !
कह ? इन्हें ओस-बूँदों-सा
फूलों में फैला जाऊँ ?

राज, मैं अपने को इस वातावरण के अनुकूल नहीं बना पाई। यहाँ आकर मुझे शांति नहीं मिली। तुम तो मेरी उस बंगालिन सखी को जानते हो, वह भैरवी। वह कहा करती थी, 'नीना मैं भाग्य पढ़ना जानती हूँ, तुम्हें चैन या शान्ति मिलना बहुत कठिन है। तुम अशान्त रहोगी, जीवन-भर वातावरण से विद्रोह करती रहेगी।'

यह विद्रोह क्यों किया जाता है राज ? शायद तुम भी इस पर प्रकाश डाल सको। हर पत्र में यह बात लिखती हूँ। तुम उत्तर नहीं देते। मुझे तुम्हारा वह कहना भी नहीं भूला, 'नीना, यह विद्रोह की आग तभी शान्त होती है जब हम इसे दूसरों में भी प्रज्वलित कर देते हैं। किसी ऐसे रचनात्मक कार्य में भी यदि तुम अपनी शक्ति लगा दो, तो नीना, तुम्हें शायद कभी शान्ति मिल सके।' यहाँ कुलियों की दशा देखकर कभी-कभी मुझे बहुत बुरा लगता है। नहीं, बहुत बुरा लगता है। कई बार चाहती हूँ कि किसी तरह इनके लिए कुछ कर पाऊँ। न जाने क्यों, इनकी दशा देखकर मन भर आता है। परन्तु फिर भी मैं अपने में ही सिमट जाती हूँ। कुछ नहीं कर पाती। शायद इस फ्लैट का, इन कीमती कपड़ों का, सुन्दर पर्दों का और सबसे बढ़कर एक सफल चित्रकार बनने का लोभ हो आता है।

तुम्हें भी तो ख्याति का लोभ कहाँ-से-कहाँ ले गया। दोष केवल मेरा नहीं, इस समय का है।

अच्छा अब सोती हूँ, ऊषा जाग उठी है········मैं सोती हूँ। तुम्हारी, "नीना।"

---

# आठ

तीन दिन से लगातार वर्षा हो रही थी। मेरे घर के पास ही एक लम्बी-चौड़ी काया वाला देवदारु का वृक्ष गिर गया था, आँधी-पानी के ज़ोर से। भूरे-भूरे पहाड़ भी हरे-हरे लग रहे थे, शायद उन पर जो वृक्ष के पत्ते थे, वह सब वर्षा के कारण धुल चुके थे। शिमला में होती हुई वर्षा ज़रा भी थम जाती तो है, सड़कों पर उत्सव की-सी भीड़ हो जाती है। रंग-बिरंगी सलवारें, साड़ियाँ, और गरारे ऐसे लहराने लगते हैं, मानो अभी कोई मेला शुरू होने वाला है। शिमला की माल रोड का यह दृश्य अपना विशेष महत्त्व रखता है।

करुणा भी मुझे शाम को माल रोड की ओर घुमाने ले गई। वह सदैव की भाँति हँस रही थी। उसकी भूरी-भूरी आँखें भी हँस रही थीं।

"नीना, देखा इतनी वर्षा होने के बाद अब मौसम खुला है, परन्तु चौधरी—जैसे इन सब वस्तुओं से अछूता रहेगा। वर्षा हो, सावन आए, बहार हो, फूल खिलें; उसके लिए सब बराबर।"

यह सब कहते-कहते करुणा का गला भर्रा गया। मुझे यह डर था कि कहीं वह रो न दे।

"चौधरी साहब घर पर क्या कर रहे हैं ?"

"कुछ नहीं, आराम-कुर्सी पर लेटे हैं। टेबिल-लैम्प जलाकर एक किताब पढ़ रहे हैं। हाँ, सिगरेट-पर-सिगरेट फूँकते जा रहे हैं। इनका सिगरेट का खर्च बहुत होता है।"

मैं चुप रही। परन्तु उसी क्षण मुझे लगा, कुछ कहना चाहिए। गृहस्थी की दलदल में फँसी यदि एक पत्नी अपने पति के लिए ऐसी बात कहती है तो वह सुनने वाले से और कुछ नहीं तो दो शब्द सहानुभूति के तो चाहती ही है। इसी नाते मैंने भी कहा—"आप मना क्यों नहीं करतीं ?"

"जैसे सब बातें तो वह मेरी ही मानते हैं। फिर उन्हें अपने वेतन में से कुछ खर्च करने का भी अधिकार होना चाहिए। यह उनकी माँग भी है और मैं इसे उचित भी समझती हूँ।"

हम दोनों मौन रहीं। वर्षा का मौसम होने पर भी सड़क पर पानी नहीं था। दाएँ हाथ सड़क और पहाड़ के साथ-साथ एक तंग नाली जा रही थी, जिसमें पानी का बहाव ज़ोरदार था।

कुछ देर चुप रहकर करुणा बोली—"देखो नीना, यह घर की बात है। चौधरी की बात तुमसे मैं अपनी सखी समझकर कर लेती हूँ। वैसे मैं तो किसी से कम ही बातचीत करती हूँ।"

"करुणा जी, आप मुझे मित्रता का जो आदर देती हैं, उसके लिए मैं आभारी हूँ। बात करने में क्या है ? कोई तो ऐसा व्यक्ति हर किसी को चाहिए न, जिससे वह बात कर

सके। मन का भेद कह सके।"

"कभी-कभी मैं अपनी बहन से बातें करती हूँ। बहन मुझसे छोटी है। समझती सब है। किन्तु फिर भी तुम्हारी बात दूसरी है।"

करुणा ने मेरा हाथ धीरे से दबा दिया। उसमें स्नेह का आभास था। यह कह देना तो अन्याय होगा कि मैंने उस समय जान-बूझकर करुणा को बातचीत जारी रखने का प्रोत्साहन नहीं दिया।

"करुणा बहन, आप अपने जीवन से बहुत सन्तुष्ट नहीं लगतीं।"

करुणा ने एक लम्बी साँस खींची—"सन्तोष तो है, परन्तु जीवन में जिसे असली प्रसन्नता कहते हैं, वह नहीं है।"

करुणा का स्वर भीगा-भीगा था, इसलिए मैं हँस न सकी। नहीं तो कहना चाह रही थी, 'यह कौन-सी नई बात है? किसी भी व्यक्ति को अपने जीवन से सन्तोष नहीं।'

"करुणा बहन, आप ऐसा क्यों सोचती हैं? चौधरी साहब भले आदमी हैं और भगवान् का दिया सब-कुछ आपके पास है।"

मुझे इस बात का ज्ञान हो चुका था कि करुणा चौधरी साहब से अधिक प्रसन्न नहीं है। परन्तु क्यों प्रसन्न नहीं, यह जानने का सदैव मैंने प्रयत्न किया, जब-जब मेरी करुणा से बातें हुईं।

जब-जब भी करुणा ने चौधरी के लिए कुछ अच्छा या बुरा कहा, मैंने रोका नहीं। मुझे उसे जानने का कौतूहल सदा बना रहता। जाने क्यों ऐसा लगता था कि मैं उसके मन की

गहराइयों में डूब जाऊँ, जैसे वहाँ से मोती मिलेंगे। मन का दूसरा कोना कहता, 'मोती यदि नहीं मिलेंगे तो घोंघे भी वहाँ नहीं।'

तभी मैंने। सुना करुणा कह रही थी, "यह देखा नीना, छोटा-सा मजदूर-परिवार दिन-भर की कमाई के बाद गरम चूल्हे को घेरकर कैसे बैठा है, कितने सुखी हैं ये सब प्राणी।"

"आपको सुखी दिखलाई दे रहे हैं। उनसे तो पूछिए, क्या वह इसे सुख मानते हैं? उनके अभावों को जानना चाहती हो तो इनसे पूछा जाय। हो सकता है आज रोटी के साथ दाल भी न हो। घी-दूध तो बड़ी दूर की चीजें हैं।"

करुणा की आँखें भर आई। यह मैं समझी नहीं, उनके दुःख को देखकर या अपने दुःख से उद्वेलित हो जाने के कारण। दूसरे के दुःख में प्रायः हम इसी तरह रो देते हैं, क्योंकि हमें अपना उसी दुःख से समानता रखता हुआ दुःख याद आ जाता है।

मुझे भी वह दिन याद आ गया जब हम लोग पाकिस्तान बन जाने के कारण लाहौर छोड़कर आए थे। पन्द्रह मील पैदल चलकर गाड़ी मिली थी। थककर लगता था हड्डियाँ भी चूर-चूर हो जायँगी, किन्तु हम चलते रहे थे। उस दिन हमें कुछ खाने को नहीं मिला था। भूख की उस ज्वाला को याद करके मेरी आँखों में भी आँसू आ गए।

करुणा सोच रही थी कि मैं उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित कर रही हूँ। वह मेरी ओर कृतज्ञता से देखने लगी। फिर उसने बड़े स्नेह से मेरी पीठ पर हाथ रखा।

मैं करुणा के सामने कभी भी नहीं बोली थी। सदैव उसे ही बात करने का अवसर देती रही थी, ताकि वह यह न समझे कि मैं उसे कम महत्त्व देती हूँ। शायद इसमें भी मेरा अपना स्वार्थ बँधा था। करुणा का विश्वास पा लेती। मैं···मैं दिलीप को कैसे जान पाऊँगी? दिलीप तो अहम् के कारण कभी अधिक बोलता नहीं। उसे डर है कि कहीं कोई अधिक जान न ले। कहीं कोई उसके निकट न आ जाय।

"अरे नीना, चलो आज 'डेविको' में चलें। चाय के साथ आज तो बैंड भी होगा।"

माल रोड के एक कोने में रिक्शों के अड्डे के पास ही कुछ रिक्शा वाले रहते थे। वहाँ का दृश्य देखकर द्रवित होने वाली करुणा एकदम 'डेविको' में जाने की बात कह रही थी। मैं भी 'ना' नहीं कर सकी। यह कहना भी अनुचित होगा कि मुझे वह प्रस्ताव पसन्द नहीं आया। उस समय अच्छा ही लगा।

'डेविको' भी विदेशियों की स्मृति का एक चिह्न है, जिसे भारतीयों ने सँजोकर रखा है।

'डेविको' में केशव अपने बहुत-से साथियों के साथ बैठा चाय पी रहा था। होटल पहली मंजिल पर स्थित है, जिसमें केवल एक बड़ा-सा चौरस कमरा है, चारों ओर दीवारों पर शीशे लगे हैं। दीवारों पर बहुत सुन्दर चित्र बने हैं। कुर्सी,मेजें

भी करीने से रखी हैं। दीवारों पर चित्रों, फूलों तथा अन्य रंगों के मिश्रण को देखकर मन प्रसन्न हो जाता है।

करुणा बोली—"कैसा मूड खराब हो गया था, आओ यहाँ बैठें खिड़की के पास। हम लोग लकी हैं कि यहाँ जगह मिल गई है। यहाँ से नीचे का सारा दृश्य दिखलाई देता रहेगा।"

मेरा मन करता था कि हम दूसरी ओर बैठें, परन्तु मैं इन्कार न कर सकी। मैं पहाड़ की ओर मुँह और माल की ओर पीठ करके बैठ गई। कमरे-भर में हँसी के कहकहे गूँज रहे थे। मैं अनुभव कर रही थी, शायद यहाँ अलग से एक नई दुनिया है, जहाँ कोई कठिनाई नहीं, बाधा नहीं। व्यक्तिगत दुःख भी वहाँ पहुँचकर सब भूल जाते हैं।

इतने लोगों को हँसते देख···होटल के कमरे का वातावरण देख, क्षण-भर के लिए तो मुझे अच्छा लगा। केशव अपनी मेज छोड़कर बहन के पास आ गया। परिचय होने के नाते मैंने भी हाथ जोड़ दिए। केशव वहीं पर बैठ गया। वह बहन से बातचीत करने लगा। चौधरी की बात, कालिज की, स्कूल की, और न जाने कहाँ-कहाँ की। मैं भी सुनती रही, परन्तु योग न दे सकी। मुझे दिलीप की 'सेसिल' वाली बात याद आ रही थी। एक बार ही इसी केशव के साथ नाचने पर उसने मना किया था, फिर अब मैं बात भी कैसे करूँ। विशेष रूप से इसके लिए मुझे यत्न नहीं करना पड़ा। स्वयं ही मेरे मुख से बात नहीं निकली।

करुणा ने एक बार कहा भी, "न जाने, तुममें यह क्या बात है, जब हँसी-खुशी का मौका होता है, बोलने की बात

होती है तो तुम चुप हो जाती हो।"

इस पर केशव ने भी टिप्पणी की, "इनको शायद सिर-दर्द हो रहा है।"

मैंने तब भी उत्तर नहीं दिया···मन के किसी कोने से आवाज़ उठी '···यह क्या दिलीप का प्रत्यक्ष में तो रोष है··· पर परोक्ष में भी?···वाह, यह खूब रही।'

मुझे अपने से घृणा हो रही थी। मैं सोच रही थी, दिलीप में कौन-सा ऐसा आकर्षण है जो मैं उसकी ओर खिंचती चली जा रही हूँ। वंचना कहना तो ग़लत होगा। मैं उसके व्यक्तित्व से इतनी प्रभावित होती जा रही हूँ, उसके विषय में सोचती हूँ। राज से भी अधिक उसके विषय में सोचती रह जाती हूँ।

क्या मेरा निज का अहम् उसके अहम् से टकराकर चकनाचूर हो गया है, जैसे किसी खिड़की का शीशा, किसी ढीठ लड़के द्वारा फेंके हुए पत्थर से चूर-चूर हो जाता है।

मुझे अपने व्यक्तित्व पर गर्व था और माँ को मान। एक बार बचपन में जब स्कूल में भर्ती हुई तो पिता और बड़े भैया का कहना था कि मैं उर्दू लूँ। मैंने हिन्दी लेनी चाही। भैया ने कह दिया, 'इसे स्कूल में भर्ती ही न किया जाय।' मैंने स्कूल के सब फार्म लिये और भैया और पिताजी के सामने उन्हें फाड़ डाला। तब दोनों ही इस बात पर राज़ी हो गए कि मैं हिन्दी लेकर पढ़ूँ।

परन्तु मैं राज से दबती थी राज में बचपन से ही

विद्रोह करने का भाव था। वह यह भाव जब तक होता मुझमें भी भरता रहता। उकसाता रहता। राज सदैव मुझे प्रभावित करने के प्रयत्न में रहता।

दिलीप यह सब न करता। शायद उसके मन में यह विचार कभी न आया हो। नहीं यह, कैसे हो सकता है। वह अहम् का आवरण अपने ऊपर कभी न रखता, यदि वह यह चाहता कि दूसरे उसे पहचान लें, जान लें।

"नीना कुछ बात करो न···नहीं तो चलो घर चलें।"

मैं मुस्करा दी। अपने अन्तर्द्वन्द्व को पीछे धकेल दिया और हॉल में बैठे हुए लोगों की ओर ध्यान लगाया।

हॉल में एक एंग्लो इंडियन जोड़ा नाच रहा था। कोई भारतीय नहीं। शायद 'टी-डान्स' में और कोई न नाचता हो। मैंने देखा, एक सिख सोफे पर बैठा हुआ, झूम-झूमकर बात कर रहा था। मानो उसकी बातचीत भी संगीत की लय के साथ-साथ हो रही हो। मैं जीवन का यह रूप भी देख रही थी। कितना प्रसन्न लग रहा है यह व्यक्ति, क्या यह वास्तव में इतना प्रसन्न होगा?

उस रात को घर पहुँचकर भी मुझे शान्ति नहीं मिली··· मन में द्वन्द्व ही चलता रहा।

---

# नौ

दिलीप घर से निकला ही था कि मैंने बुला लिया—"आइये न, आप तो बहुत दिनों से मेरे यहाँ आए ही नहीं।"

"ओह, आप मुझे बुला रही हैं क्या ?"

"जी हाँ आप ही को।"

दिलीप ने सिगरेट का धुआँ आसमान की ओर फेंका, और अपने घर की ओर सरसरी दृष्टि डालते हुए अन्दर आ गया।

मैं अपने साहस पर आश्चर्य कर रही थी। मैंने दिलीप को बुलाया, तो क्यों बुलाया ?

मन के किसी कोने ने कहा—'बुला लिया सिर पर। तुमने ठीक ही तो किया। तुम यह चाहती भी तो थीं।'

दिलीप मुस्करा रहा था। शायद उसे अपनी विजय का आभास हो रहा था।

"बहुत दिनों से आपको देखा नहीं ?"

"क्यों, मैं तो यहाँ ही था। शायद तुम्हें ही फुरसत नहीं मिली।"

दिलीप हँस पड़ा। वह हँसी कमरे में गूँज गई। पर्दे हवा से हिल रहे थे, साँझ पड़ चुकी थी, परन्तु अभी प्रकाश पर अन्धकार का इतना आधिपत्य नहीं हुआ था कि बिजली जलाने की आवश्यकता पड़े।

"कहो, सूरी साहब के क्या हाल हैं नीना !"

"वे तो आपके मित्र हैं, मैं क्या बताऊँ कि हाल कैसे हैं।"

"वह आगरा से बन्दर वाला पेपर-वेट भेंट के रूप में मेरे लिए लाए हैं या तुम्हारे लिए।"

"भेंट भी लाये तो बन्दर का पेपर-वेट।" मैंने जरा से तिरस्कार-भरे स्वर में पूछा।

"अपना-अपना ढंग है भावनाओं को प्रकट करने का। उसे यही ढंग पसन्द है।"

"दूसरों की भावनाओं का मुझसे क्या सम्बन्ध है। और फिर सूरी साहब की भावनाओं का तो और भी नहीं।"

दिलीप ने इस बार कहकहा लगाया।

उस समय उसकी आँखें शरारत से भरी थीं। यह राज की आँखों और दिलीप की आँखों में इतना सामंजस्य क्यों है। फिर आँखें ऐसा अस्त्र हैं, जहाँ सब-कुछ नया हो जाता है, सर्वस्व बिखर जाता है।

"क्यों नीना, चुप क्यों हो गई।"

"सोच रही हूँ बत्ती जला दूँ।"

"नहीं, अन्धकार ही रहने दो। मुझे बत्ती का प्रकाश बहुत अच्छा नहीं लगता।"

(मैंने अनुभव किया, मेरे हृदय की धड़कन अपने-आप ही बढ़ गई है। दिलीप की यह बात चाहे बहुत नई नहीं थी, परन्तु मैंने इसी तरह की बात बहुत पहले भी सुनी थी। मुझे भी बत्ती का प्रकाश अधिक अच्छा नहीं लगता। फिर भी हृदय की धड़कन बढ़ गई। पहले जब भी दिलीप बात करता, तो मुझे राज का विचार आ जाता। आज यह नवीन अनुभूति थी। दिलीप ने एक बात कही ; जो राज की बात से इतनी मिलती है, फिर भी राज मन के किसी कोने में ऐसा पड़ा है मानो कि भूली-भटकी याद हो। दिलीप के व्यक्तित्व में इतना प्रभाव है कि मैं जानते हुए भी बेवकूफ बन रही हूँ। उसकी ओर बढ़ी जा रही हूँ, चुम्बक की शक्ति से।)

"सूरी साहब की बात तुम बीच में ही छोड़कर जाने क्या सोचने लगी हो। भावनाएँ चाहें किसी की हों, जब तक वह आदर और स्नेह की हैं तब तक तुम्हें शोभा नहीं देता कि उनका निरादर करो।" दिलीप कह रहा था।

मुझे जरा-सा क्रोध आ गया। यह सूरी साहब को क्यों बीच में बार-बार ला रहा है।

"मुझे किसी की भावनाओं की आवश्यकता नहीं।" मैंने खीझकर उत्तर दिया।

"तभी तुम सदैव देख लेती हो कि तीर ठीक निशाने पर

बैठा है। निशाना ठीक बैठे। इधर-उधर न पड़ जाय। विजय हो तो पूर्ण हो।"

"यह आप क्या कह रहे हैं।" मेरी आवाज में पराजय का पुट है यह तो मैं भी समझ रही थी।

दिलीप ने दूसरी सिगरेट जलाई और डिब्बी को (जो शायद खत्म हो गई थी) मेज पर फेंकते हुए उसने कहा—"मैं यही कह रहा था, कि तुम कुछ सिगरेट मंगवाकर रखो। नहीं तो तुम्हारे यहाँ आकर बात करना बड़ा मुश्किल होता है।"

"सिगरेट मँगवाकर पहले से रख ली हैं। आपने एक बार कहा था कि मैं चाय नहीं पिऊँगा सिगरेट हों तो····।"

यह सुनकर दिलीप को प्रसन्नता हुई।

"मँगवा न लो वह सिगरेट। बातचीत करने में सुविधा होगी।"

मैंने नौकर को आवाज दी और वह सिगरेट दे गया।

"यह लीजिये, अब तो आप इस घर में आया करेंगे न।"

दिलीप फिर हँस दिया।

"आज आपका मूड बहुत अच्छा है।" इसपर वह गम्भीर हो गया।

मुझे पहले भी इस बात का अनुभव हुआ था कि दिलीप को जब भी यह कहा जाता कि उसका मूड ठीक है, तो वह सदैव गम्भीर हो जाता था।

"यह तीर और निशाने वाली बात कैसी कह रहे थे।" मैंने झिझकते हुए पूछा।

दिलीप हँस पड़ा।

"यह भी मुझसे पूछ रही हो। अपने अहम् की पूर्ति के

लिए क्या तुमने कभी किसी को अछूता रहने दिया है ।"

"अहम् की पूर्ति के लिए ?"

"हाँ, ठीक है यही, लोग तुम्हारी प्रशंसा करें, स्तुति करें, यही तो तुमने सदैव चाहा है।"

"आपसे कम। अहम् तो आपमें अधिक है।"

"तुम्हारा यह निजी विचार है। मेरा अहम् तो मुझे एक सीमा में बाँधकर रखता है।"

"और मेरा !"

"तुम शायद उस कटु सत्य को सहन नहीं कर सकोगी।"

"आप कहकर तो देखिये।"

"तुम जब भी बात करती हो, जब भी किसी नये व्यक्ति से तुम्हारा परिचय होता है तब तुम्हारी अचेतन शक्ति इसी ओर लगी रहती है कि दूसरा तुमसे प्रभावित हो जाय।"

दिलीप ने बात सहज ढंग से की थी। मुझे ठेस लगी। बहुत-सी रातें, मैं दिलीप की बात सोचकर ही आँखों में काट देती हूँ। यही दिलीप, मेरे विषय में ऐसा सोचता है। जिस व्यक्ति को मैं इतना सम्मान देती हूँ। यह वही दिलीप है, जो मेरे दिल की प्रत्येक धड़कन के साथ सामने आता है। उफ़, बहुत दबाने पर भी मेरी सिसकी निकल गई।

"इसमें रोने की क्या बात है ?" दिलीप पूछ रहा था।

उसने एक सिगरेट जला ली।

"कम-से-कम आपको तो ऐसा न कहना चाहिए था।" मैंने रुँधे हुए कण्ठ से कहा।

"क्यों, मैं मनुष्य नहीं हूँ, क्या दूसरों से भिन्न हूँ।"

"मैं तो ऐसा ही सोचती हूँ।"

"अब से ऐसी ग़लती कभी न करना।" दिलीप कह रहा था।

मुझे गहरी चोट लगी। उससे क्या कहती। वह तो पत्थर की भाँति प्रहार-पर-प्रहार कर रहा था। शायद उसका 'अहम्' पत्थर का था।

"आप तो पत्थर हैं।"

मैंने भी कह डाला। परन्तु दिलीप ने इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर देता तो मेरी वह जलन और घुटन हल्की हो जाती। इस चोट को सहन करके भी मैं उसी प्रकार बैठी रही थी, मानो कुछ हुआ ही नहीं। मन की टीस मन में दबा ली। मुझे दिलीप के चरित्र का यह रूप समझ में नहीं आया।

दिलीप कहता गया—"उस दिन तुम केशव के साथ नाची थीं।"

"तो क्या हुआ? नाचना कोई पाप है।"

"नहीं, मैंने कब कहा पाप है। मुझीको लो। जो मन में आये, मुझे अच्छा लगे कर लेता हूँ। कभी तुमने सुना होगा, समझती होगी, झूठ बोलना पाप है। परन्तु जब देखता हूँ कि मेरा झूठ किसी को हानि नहीं पहुँचाता, तो मैं झूठ भी बोलता हूँ, जान-बूझकर बोलता हूँ। तिस पर झूठ बोलकर छिपाता नहीं। मैं मान लेता हूँ, मैंने झूठ बोला है।"

विचित्र है यह व्यक्ति। अहम् की अभिव्यक्ति का यह भी एक रूप है।

"अच्छा अब तो अँधेरा हो गया। बत्ती जला दी जाय।" और साथ ही दिलीप ने उठकर बत्ती जला दी।

मेरी आँखों में आँसू न थे, शायद वह दिलीप न देखे। फिर खिड़की में से बाहर देखा। और सिगरेट का लम्बा कश खींचकर बाहर की ओर धुआँ फेंका।

"आप तो कहीं बाहर जा रहे थे?"

"क्यों! तुम मुझे वैसे ही निकालना चाहती हो तब तो अलग बात है, मैं जाता हूँ।"

"नहीं-नहीं, यह आप गलत समझ रहे हैं।"

दिलीप की बड़ी-बड़ी आँखें मुसकरा दीं। वह उठा और बिना कुछ कहे ही कमरे से बाहर चला गया।

मैं···मैं उसी कुर्सी पर बैठी रही, उन आँखों को मन-ही-मन देखती रही, परन्तु अहम् की निर्दयता का ओर-छोर न पा सकी। एक व्यक्ति, जो एक ओर से इतना कोमल है, भावुक है, दूसरी ओर इतना कठोर; जैसे यह कठोरता और कोमलता उसके नियन्त्रण में चलने वाली दो कठपुतलियाँ हों।

मन कचोटता रहा, स्वयं को दोष देता रहा। जीवन में, रात की नींद, दिन का चैन और शान्ति के अधिकार हैं। फिर मैंने क्यों इन्हें खो दिया है। किसलिए इतनी वेदना। पत्थर पर शीशा फेंका है, चकनाचूर न हो। मैं वेदना से भर उठी। उसी समय विचार आया, 'यह वेदना, जो प्रेम को सस्तापन दे देगी प्रेम तो सर्वोत्कृष्ट होना चाहिए। प्रेम में जरा-सा सस्तापन आ जाय तो वही सबसे बड़ा पाप है। मुझे इस प्रेम से क्या लेना-देना है, जीवन में एक दिन दुर्भाग्य आता है, आ गया है। जीवन में जो-कुछ जीवित है, नवीन है, गतिपूर्ण है, वह जैसे सब-का-सब समाप्त हुआ जाता है।

अवसाद से मेरा मन भर उठा और मैंने निश्चय कर लिया इस सब पर विजय पा लूँगी। मैं अपने साथ काम करने वालियों की स्थिति का सुधार करूँगी। तभी एकाएक मेरे कान में एक हँसी गूँज गई। यह हँसी राज की थी। बहुत पहले की बात है। राज ने एक बार कहा था, 'जीवन में जब हम सोचते हैं कि हमने बहुत-सा काम कर लिया है, नेतृत्व कर लिया है तब हम अपने से छोटों की बागडोर हाथ में लेने का प्रयन करते हैं, तब इन मनुष्यों का काम छोड़कर भगवान् का काम हाथ में ले लेते हैं। परन्तु मेरी साथिनें तो मुझसे छोटी नहीं। क्या मैं उन्हें अपने से हीन नहीं समझती तो क्या मैं भी अपने को धोखा देने का प्रयत्न नहीं कर रही। मुझे राज पर गुस्सा आया। मैंने उसे पत्र लिखा।

"प्रिय राज !

तुम्हारा एक पंक्ति का पत्र मिला। जिसमें तुमने केवल यही लिखा है कि तुम्हें मेरे पत्र मिल रहे हैं और तुम उन सबका उत्तर इकट्ठा दोगे। बेशक मत देना। कोई विशेष आवश्यकता नहीं। पत्र तुम्हारा उत्तर पाने के लिए लिखे ही नहीं गए थे। तुम स्वस्थ हो, यह जानकर प्रसन्नता हुई।

वहाँ तुमने किसी लड़की से मैत्री नहीं जोड़ी, इस विषय में तुमने कुछ नहीं लिखा। मैं तुम्हें यह बतला देना चाहती हूँ कि कोई पुरुष किसी भी स्त्री को तब तक प्रसन्न नहीं कर सकता जब तक कि वह बहुत-सी स्त्रियों से प्रेम करने की क्षमता न रखता हो।

तुम यह सोचते होगे कि मुझे उस लड़की से ईर्ष्या होगी। मैं ऐसी ईर्ष्या को एक प्रकार का पागलपन समझती हूँ; जिस पागलपन में ईमानदारी नाम-मात्र को नहीं होती।

यह भी न समझ बैठना कि मैं जीवन के प्रति उदास हो गई हूँ। नहीं, मुझे जीवन के प्रति प्रेम है, चाहे मुझे जीवन में कितनी ही कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े, फिर भी मेरा संसार सदैव सुन्दर रहेगा। देखो राज, इसका यह अर्थ भी न लगा लेना कि मुझे कष्ट भोगने की आकांक्षा है और यदि कोई कष्ट मेरे निकट से गुजर जाय, मुझे छू जाय, तो मुझे निराशा होती है। सब-कुछ दुख-भरा और उदास मुझे अपना कर्तव्य नहीं जान पड़ता।

आज मेरे आँसू निकलना चाहते हैं, मैं रोना चाहती हूँ। परन्तु···तुम यह न समझना कि यह आँसू तुम्हारे विरह के हैं। मैं जैसे स्वयं से टकरा गई हूँ। मेरी अनुभूतियाँ जैसे अपने भीतर ही विद्रोह कर चुकी हैं। मैं भीतर-ही-भीतर जैसे एक युद्ध कर रही हूँ। इस युद्ध से तुम सम्बन्धित हो, नहीं भी हो। मैं यह कैसी बे-पढ़े-लिखों-जैसी बातें कर रही हूँ। तुम नाक-भौं सिकोड़ोगे।

राज, मुझे तुम्हारी वह बात कभी भी नहीं भूलती कि मनुष्य अपने को ही एक सुख का बिन्दु मानकर चले तो ठीक रहता है। वह अधिक दुःख मोल नहीं लेता।

मुझे ऐसा लगता है, जैसे कभी-कभी हमारा अहम् हमें प्रसन्न नहीं होने देता। हम खुश होना चाहते हैं। आकाश से कहना चाहते हैं, हम प्रसन्न हैं। ठंडी हवा से कहना चाहते हैं, हम खुश हैं। नाचते हुए हरे पत्तों से, खिले फूलों से और

कल-कल बहती हुई नदी से भी कहना चाहते हैं कि हम प्रसन्न हैं। तब हमारा अहम् हमारे सामने दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। हमें अपनी इस भावना पर आश्चर्य होता है। हँसने की, खुश होने की इस छोटी-सी बात को लेकर, इसकी क्षुद्रता पर क्षोभ होता है। बात छोटी-सी है राज, पर है सच। खुशी कोई बाहर से खरीदी तो जा नहीं सकती। यह हमारी अपनी वस्तु है; जो एक रंग-बिरंगी तितली को देखकर उपजती है। छोटे बच्चे कभी रेलगाड़ी का खेल खेलते हैं। एक बच्चा इंजिन बनता है और दूसरे डिब्बे। झक-झककर जब रेल-गाड़ी चलती है तो राज, सच कहना हम लोगों का क्या यह जी नहीं चाहता कि ताली बजाकर नाच उठें। इस मासूम खेल पर प्रसन्नता होती है। हम ताली नहीं बजाते, हँसते नहीं, और न ही नाचते हैं। क्यों, केवल इसलिए कि तब हमारा अहम् हमें ऐसा नहीं करने देता। हमारे जीवन की सबसे बड़ी पराजय कहो या विजय कहो, केवल हमारा अहम् है। इसी अहम् को लेकर शायद तुम वहाँ बैठे हो, काम शायद पूरा नहीं कर सके। राज मेरे बाईं ओर कोने में दीवार पर एक मकड़ा जाले के ताने-बाने में फँसा हुआ है। वहाँ से उतरता नहीं, दीवार पर बैठने का साधन नहीं, उसकी टाँगें शायद कमजोर हैं। जब तक जाला न होगा वह सँभल कैसे सकेगा। यदि वह जाला भी नीचे लेकर आ जाय तो उसका अस्तित्व भी वहीं समाप्त हो जाय। यदि वह बचने का प्रयत्न करेगा तो भटक जायगा। राज, इसी तरह मनुष्य भी बहुत-सी ग्रन्थियों का ताना-बाना बनाकर रखता है और उसे तोड़ना नहीं चाहता। यदि तोड़ दे तो उसके पैर कट जाते हैं और वह नीचे गिर पड़ता है।

न जाने इधर-उधर की क्या तुम्हें लिख रही हूँ। मेरे पड़ोस में एक सूरी साहब रहते हैं, कालिज में मेरे साथी हैं। वहीं पढ़ाते हैं जहाँ मैं पढ़ाती हूँ। वह पड़ोस में वायलिन बजा रहे हैं। बड़ी दुःखभरी रागिनी है। सोज़-भरा स्वर है। राज, शिमला में फूल नहीं मिलते। कुछ कोठियों में लगे हुए हैं। वह न तो स्वयं तोड़ते हैं और न ही दूसरों को तोड़ने देते हैं। मुझे यह सूरी साहब दूसरे-तीसरे दिन फूल भेजते हैं मुरझाये हुए। शायद वह कालका से मँगाते हैं। शिमला में तो फूल बिलकुल नहीं होते। कभी-कभी मैं जीवन की इतनी कठोर बातें करके भी तुमसे फूलों की बात कहना नहीं भूलती।

मैं अब तुमको आने के लिए नहीं लिखूँगी, तुम्हारी इच्छा है, आओ या न आओ।

तुम्हारी, नीना।

———

# दस

कालिज का वार्षिक उत्सव समाप्त हो गया। इस उत्सव के बाद हमें चार इकट्ठी छुट्टियाँ मिलीं। करुणा ने प्रस्ताव किया कि यह छुट्टियाँ मशोबरे के डाक-बँगले में बिताई जायँ। उसके इस विचार को दिलीप ने बिना किसी टीका-टिप्पणी के मान लिया। करुणा ने मुझसे भी कहा। मैं भी मना न कर सकी। क्योंकि उसी शाम को कालिज के वार्षिक उत्सव में जब मैंने अपना बनाया हुआ चित्र कालिज की व्यवस्थापिका-कमेटी के अध्यक्ष मिस्टर भाटिया को भेंट कर दिया तो दिलीप को अच्छा नहीं लगा, ऐसा मैंने अनुभव किया था।

भाटिया ने दिलीप से पूछा—"कहो चौधरी, कैसा रहा यह चित्र ?"

उस समय दिलीप के ओठ इस अन्दाज से आपस में सट गए, मानो यह उसकी बड़ी भारी हार हुई है। चलो, यह कहीं, किसी स्थल पर तो यह अनुभव करता है कि इसकी हार हुई है। परन्तु क्या मुझे उस समय खुशी हुई। नहीं, मैं अपने को धोखा नहीं दे रही हूँ। यह सच्ची बात है कि मेरी वह क्षणिक

ख़ुशी भी दिल से न थी। यदि होती तो मुझे किसी प्रकार का सन्तोष होता। सन्तोष होने की बजाय मैं असन्तोष से भर उठी। मुझे लगा जल्दी-से-जल्दी ऐसा अवसर मिलना चाहिए जिससे कि मैं दिलीप की यह नाराजगी दूर कर पाऊँ।

मैं अपने को उसके बाद कितनी देर तक क्षमा नहीं कर सकी। मैं मन-ही-मन अपने को धिक्कार रही थी कि क्यों मैंने वह तस्वीर एक तरंग में आकर भाटिया को दे दी। जब भाटिया उस तस्वीर की प्रशंसा कर रहा था तब ही मैंने निश्चय किया था कि क्यों न इसको दे डालूँ। फिर उसमें विशेष बात भी तो कुछ न थी, केवल कालिज का चित्र था, लॉन में खिले फूल भी उसमें चित्रित हो गए थे। कालिज-बिल्डिंग के पीछे पहाड़ थे, वृक्ष थे, अधिक कुछ नहीं।

दिलीप ने उस तस्वीर के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा था। रास्ते में घर आते समय भी वह चुप रहा, कुछ विरोध नहीं किया। रात हो गई थी। हम दोनों इकट्ठे ही लौटे थे, करुणा भी साथ थी। मुझे आशा थी कि दिलीप अपनी नाराज़गी तो अवश्य प्रकट करेगा। उसने कुछ नहीं कहा। मेरे अन्तर्मन में बेचैनी बढ़ती रही। जब करुणा ने मशोबरे जाने का प्रस्ताव रखा तो मैंने दिलीप की ओर देखा। वह मेरी ओर देख रहा था। मुझे लगा कि दिलीप की आँखें मुझे हाँ कहने के लिए कह रही हैं। हो सकता है मेरे मन का कोई कोना ऐसा अनुभव करता हो।

मशोबरे के डाक-बँगले में हम पहुँच गए। दिलीप ने अपने लिए एक अलग कमरा लिया। करुणा और मैं एक दूसरे कमरे में। बेबी करुणा के साथ सोती थी।

मशोबरा शिमला से सात-आठ मील की दूरी पर एक छोटा-सा कस्बा है। बहुत-से रईसों और शौकीन लोगों ने अपनी कोठियाँ वहाँ बना रखी हैं। शिमला से मशोबरे तक बस-सर्विस भी है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो मशोबरा में रहते हैं और शिमला मोटर पर चले जाते हैं।

हम लोग तो छुट्टी बिताने आये थे। सुबह साढ़े सात बजे शिमला से चलकर प्रायः साढ़े आठ-नौ तक मशोबरा पहुँच गए थे। डाक-बँगले में पहुँचते ही दिलीप अपने कमरे में चला गया। (उसने जाते समय कह दिया—'चाय उसके कमरे में पहुँचा दी जाय। वह चाय के लिए बाहर नहीं आयगा।'

मुझे इस बात से दुःख नहीं हुआ। जरा-सी हँसी आई। वाह, क्या खूब लाट साहब हैं। यह बाहर नहीं आयँगे चाय इनके कमरे में पहुँचा दी जाय। दिलीप का कमरा दूर नहीं, बिलकुल पास वाला था। करुणा का मुँह जरा देर के लिए उतर गया, फिर वह हँसने लगी। उसके लिए दिलीप का व्यवहार नया नहीं था। उसे आदत हो चुकी थी ऐसे व्यवहार की।)

हम दोनों ने बड़े इतमीनान से कपड़े निकाले, बारी-बारी से स्नान करने गईं। बेबी ग्रामोफोन पर रिकार्ड सुनती रही। आपस में हँसी-मजाक भी चलता रहा। करुणा संसार-भर की बातें पूछती रही। मैं शादी कब कर रही हूँ? मेरा दूल्हा कैसा होगा? मेरी सगाई हो चुकी है कि नहीं? मैं हँसती रही। रिकार्ड बजाती रही। करुणा की बातों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था। करुणा को मेरी शादी की जल्दी है, जैसे प्रायः

दूसरी स्त्रियों को होता है। नारी का स्वभाव जो ठहरा। शायद यदि मेरी शादी हुई होती तो मैं भी ऐसा ही व्यवहार करती।

मैं अचानक बड़े अच्छे मूड में आ गई थी। समझी नहीं कि क्या बात थी। मैं क्यों ऐसा अनुभव कर रही थी। दिलीप की चाय उसके कमरे में पहुँचा दी गई। मैं और करुणा बाहर बरामदे में बैठकर चाय पीने लगीं। हममें बराबर हँसी-मज़ाक चल रहा था। साथ-साथ बातें भी हो रही थीं।

सूरी साहब का ज़िक्र भी आया। बेचारे बन्दर वाला पेपर-वेट मेरे लिए लाए और फूल तो रोज़ाना ही भेजते थे। कभी-कभी वायलिन बजाकर भी सुनाते थे।

करुणा ने बतलाया कि सूरी उससे कह रहे थे, आपकी सखी को मेरा वायलिन बजाना बहुत अच्छा लगता है। ऐसा मेरा विचार है। करुणा ने उत्तर में कहा था कि यदि रात को आप वायलिन बजाओ तो मेरी सखी बड़ी प्रसन्न होगी। इस पर हम दोनों बड़ी देर तक हँसती रही थीं। इसीलिए सूरी आजकल रात को वायलिन बजाते रहते हैं।

हम दोनों को हँसती देखकर दिलीप भी अपनी चाय की प्याली लेकर बाहर आ गया। दिलीप को आता देखकर करुणा चुप हो गई। न जाने उसे पति को देखकर ऐसी झेंप क्यों हो जाती थी।

क्या दूसरे पति-पत्नी भी ऐसे ही होते हैं? यही विचार मेरे मन में आया।

दिलीप बोला—"बड़ी हँसी आ रही थी। अब एकाएक यह चुप्पी क्यों?"

करुणा तो चुप रही। परन्तु मुझसे न रहा गया। मैंने

कह दिया, "आखिर आपसे भी तो न रहा गया। आप भी हमारी हँसी में योग देने के लिए यहाँ आ ही गए।"

दिलीप की मुद्रा फिर गम्भीर हो गई ; मानो इस बात का प्रकट हो जाना उसके लिए ठीक नहीं था। जैसे वह इतनी-सी बात से धरती पर आ गया था। उसके व्यक्तित्व और अहम् के लिए यह सहन करना कठिन था।

"क्यों, चुप क्यों हो गए आप ?"

दिलीप ने मेरी ओर देखा। "क्या बात करूँ। आप लोगों की बातें मैंने सुनी नहीं। फिर क्या कह सकता हूँ, क्या क्रम चल रहा था। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जब दो स्त्रियाँ बैठती हैं तो उनकी चर्चा का विषय प्रायः पुरुष ही होते हैं।"

करुणा भी हँसे बिना न रह सकी।

"आप पुरुषों को भी कितनी गलतफ़हमी रहती है।" मैंने ज़रा रोष से कहा।

"गलतफ़हमी पुरुषों को नहीं, केवल नारी को होती है। यह केवल नारी का एकाधिकार है। गलतफ़हमी की कोई नींव नहीं होती। यह डोलती हुई वस्तु है। पुरुष स्थिर है वह स्थिरता में विश्वास रखता है।"

करुणा ने जरा क्रोध भरी दृष्टि से अपने पति की ओर देखा, "पुरुष स्थिर रहता है यह आप कह रहे हैं। क्या मैं पूछ सकती हूँ कि आपमें कितनी स्थिरता है ? ईमानदारी से जवाब दीजिएगा।"

"ईमानदार बनने के लिए मैं बाध्य नहीं हूँ। पर तुमने मुझमें कौन-सी अस्थिरता देखी है ?"

करुणा की आँखों में आँसू आ गए।

"क्या आप वही हैं, जो आप विवाह से पहले थे ?"

"हाँ, मैं जैसा पहले था, अब भी वैसा हूँ। मुझमें कौन-सा अन्तर है ?"

"क्या अन्तर भी कोई स्थूल वस्तु है। उसका कोई ऐसा घेरा है, जो पकड़कर बतलाया जा सकता है। यह अनुभव करने की बात है। मैं ऐसा अनुभव करती हूँ।"

मैं देख रही थी कि करुणा का गोरा मुख लाल हो रहा है। आँखें भी लाल हो रही थीं। उनमें पानी चमक रहा था। नारी स्नेह के लिए, प्रेम और आदर के लिए गिड़गिड़ा रही थी। मुझे कुछ अटपटा लगा। दिलीप के प्रति कुछ ऐसी भावना से मन भर गया, मानो वह यह सब ठीक नहीं कर रहा। फिर कर रहा है तो क्यों कर रहा है ? किसलिए कर रहा है ? यही प्रश्न मेरे मन में घूमने लगा।

दिलीप करुणा की बात का उत्तर दिये बिना ही अपने कमरे में चला गया। मुझे भी अच्छा नहीं लगा। मैं आराम-कुर्सी पर बैठी थी। बैठी रह गई। करुणा बेबी को लेकर कमरे के भीतर चली गई।

मैं सोचती रही, 'यह दिलीप कैसा है ? पत्नी के साथ उसका ऐसा व्यवहार क्यों है ? इस व्यवहार में अभद्रता का तो लेश-मात्र भी कहीं नहीं। परन्तु फिर कुछ ऐसा है, जो नहीं होना चाहिए। दिलीप में वह क्या नहीं, जो एक पत्नी पति में चाहती है ?

राज यदि दिलीप के स्थान पर होता तो क्या वह ऐसा करता ? शायद नहीं। दिलीप बात कम करता है। राज अधिक

बोलता है। दिलीप के बात करने से, जो वह व्यक्त नहीं करता उससे कुछ और अधिक लेने की सम्भावना रहती है। कुछ ऐसा समझ लेने की सम्भावना शायद इस दिलीप के मन में न हो। दिलीप की चुप्पी रहस्यमयी है। करुणा-जैसी नारी, यानी साधारण नारी, जो मन की गहराइयों से या जो-कुछ सूक्ष्म है उससे परिचित नहीं होना चाहती। वह यदि ऐसा अनुभव करे तो क्या? दिलीप में सूक्ष्म क्या है? यह समझ लेना तो बहुत आसान नहीं।

करुणा बेबी को पलंग पर सुलाकर बाहर निकली और घूमने का प्रस्ताव किया, परन्तु न जाने क्यों मुझे उससे उत्साह नहीं हुआ। मैं दिलीप की बात को एकान्त में सोचना चाहती थी। मुझे यह भी विचार आया कि करुणा शायद ऐसा न समझे कि मैं दिलीप के साथ एकान्त में बातचीत करना चाहती हूँ।

मुझे सफाई देने का अवसर नहीं दिया करुणा ने। वह स्वयं ही चली गई और जाती-जाती कह गई, "मैं तो बाज़ार जा रही हूँ। तुम लोगों के लिए फल लाऊँगी। बेबी को देखती रहना। अभी तो सोई है, जागेगी नहीं।"

मैं बोल नहीं सकी। कोशिश करने पर भी नहीं बोल सकी। सोचा, कुछ कहूँ। पर चुप रही। जैसे भीतर ही बोलने की ताक़त न रही हो।

न जाने मैं कुर्सी पर कितनी देर बैठी रही। फिर एकाएक अज्ञात प्रेरणा से उठी, और दिलीप के कमरे में चली गई। दिलीप अखबार में मुँह छिपाए बैठा था। मैंने जाते ही कहा—"कृपया अखबार तो आप अलग रख दीजिए।"

दिलीप ने अखबार अलग रख दिया और मेरे मुख की

ओर देखा, जैसे मुझे जो-कुछ कहना हो, कह डालूँ। फट-फट कह डालूँ।

दिलीप की आँखें अभी भी गम्भीर और ग़मग़ीन थीं। मुझे कुछ भी नहीं सूझा कि बात कैसे आरम्भ करूँ?

दिलीप ने ही कहा—"तुम नहीं गईं करुणा के साथ?"

"नहीं, मन नहीं किया।"

"मन नहीं किया या जान-बूझकर ही नहीं गईं।" दिलीप की आँखें इस बार शरारत से हँस रहीं थीं।

"जान-बूझकर ही नहीं गई। क्यों?" मैंने ज़रा तुनककर कहा।

("मुझसे सच बोला करो नीना! यह कहो कि तुम जान-बूझकर नहीं गईं, क्योंकि तुम्हें...."

"आपसे बातें करनी थीं।"

"हाँ...अब सच कह रहो हो। मुझे यह सुनकर खुशी हुई कि तुम नारी होकर भी सच बोलना जानती हो।")

"क्या नारियाँ सच नहीं बोलतीं?"

"बहुत कम, विशेषकर ऐसी बातों में जहाँ उनकी भावनाओं का प्रश्न हो, वहाँ तो वह बहुत कम सच बोलती हैं। खैर, मैं बहस नहीं करना चाहता। तुम कहो, क्या कहना चाहती हो?"

"मुझे आप वह कहने पर मजबूर कर रहे हैं, जो मैंने आज तक नहीं कहा।"

दिलीप की बड़ी-बड़ी आँखें अहम् को भूलकर मेरे मुख की ओर देखने लगीं।

"मैं तुम्हें किसी बात के लिए मजबूर नहीं करना चाहता

नोना ! तुम्हारी खुशी हो तो कहो ।"

"मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि आप इतनी लापरवाही क्यों दिखलाते हैं ?"

"कैसी लापरवाही ? मैं समझा नहीं ।"

"यही कि आपको पत्नी की, बच्चे की कोई आवश्यकता नहीं । जैसे करुणा का यह अपना दोष है कि वह आपकी पत्नी है ।"

"नहीं उसमें दोष की क्या बात है । वह मेरी पत्नी है । बस इतना ही क्या कम है । और मैं इस सत्य से भली-भाँति परिचित हूँ कि वह मेरी पत्नी है । मैंने कभी प्रयत्न नहीं किया कि अपने इस उत्तरदायित्व से इन्कार कर दूँ ।"

मैं दिलीप के मुख की ओर देख रही थी । कुछ देर पहले जैसा उसने पत्नी के साथ व्यवहार किया वह मैंने देखा था । उसीसे मुझे दुःख हुआ था, परन्तु साथ में कुछ और भी कारण है, यह केवल उसकी पत्नी के दुःख से दुःखित होने वाली बात नहीं ।

मैं बोली—"लापरवाही से मेरा मतलब है कि आप उनकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, जितना आपको देना चाहिए ।"

दिलीप के पतले-पतले होठ उसी तरह सट गए, जैसे उस दिन भाटिया को चित्र देने पर सट गए थे । मुझे उस घटना की याद हो आई ।

"देखिये, लापरवाही से मेरा तात्पर्य आप ठीक तरह से नहीं समझे । खैर उस बात को छोड़ दीजिये । जिस बात का आप उत्तर न देना चाहें मैं कैसे उसे बार-बार पूछ सकती हूँ । शायद हो सकता है मैं स्वयं ही आपको अच्छी तरह से समझा

नहीं पाई हूँ। सुनिये....."

दिलीप हँस पड़ा।

"सुन रहा हूँ, कहो!"

मैं साहस इकट्ठा करके भी न कह पाई।

"हुँ...कहो, क्या कह रही थीं तुम?"

"आपको....आपको अच्छा नहीं लगा कि मैंने भाटिया को वह चित्र भेंट में दे दिया है।"

"मैं कौन हूँ जिसका अच्छा लगना, या न लगना तुम्हारे लिए इतना महत्त्वपूर्ण हो। तुम्हारी चीज़ थी, तुमने जिसे चाहा दे दी।"

क्या दिलीप इतना भी नहीं समझता कि इसका अच्छा लगना या बुरा लगना मेरे लिए कितने महत्त्व की बात है। मेरा जीवन नये मोड़ से गया, मैंने अपनी गति के प्रवाह को नया मोड़ दे दिया। तिस पर भी यह दिलीप कहता है कि मैं कौन हूँ, क्या यह चाहता है, मैं खुले शब्दों में अपने को उसके सामने नत करूँ। क्या मैं अपनी हार पहले ही उसके सामने प्रकट नहीं कर चुकी हूँ। अब यह सब किसलिए कहा है उसने। यह क्यों दिखलाना चाहता है कि वह उदासीन है, परे है, जैसे इन सब चीजों से दूर है। क्या दिलीप के अहम् को इससे भी चोट लगेगी कि वह यह स्वीकार कर ले कि दूसरे के लिए वह क्या महत्त्व रखता है। मैं आत्म-भर्त्सना से भर उठी। जी चाहा अपने मुँह पर एक थप्पड़ मारूँ। अपने को नोच लूँ। मैं क्यों आ गई उसके साथ मशोवरा। और फिर आने के बाद मैंने अपने-आपको दिलीप की नजरों में क्यों गिरा लिया? करुणा टूटी हुई है, गिरी हुई है, इसलिए दिलीप उसे कुछ समझता

नहीं। यदि आज करुणा भी फिर तान दे, दिलीप से टक्कर ले, तो शायद दिलीप का अहम् धरा रह जाय। परन्तु मुझे क्या लेना-देना। यह कैसी विडम्बना है, हम अनजान में ही अज्ञात बन्धनों से बँध जाते हैं, न चाहती हुई भी मैं दिलीप की ओर खिंची जा रही हूँ। किस लिए और क्यों ?

"क्या सोच रही हो नीना !" दिलीप ने खिड़की में से बाहर देखते हुए कहा।

"यही सोच रही हूँ कि आप कितने अहंवादी हैं।"

दिलीप का मुख लाल हो गया।

"तुम मुझे समझी नहीं नीना ! मैं ? मैं अहंवादी तो हूँ, परन्तु मेरा अहम् भिन्न है, दूसरे अहम् से। मैं···मैं।"

मैंने बात को बीच में ही काट दिया। मुझे लगा उसका अहम् मेरा गला घोट देगा। मेरी साँस मुश्किल से निकलेगी।

"आपका अपना ही तो विचार है। मैं आपका अहम् समझती हूँ। खूब समझती हूँ। आप मुझे और क्या समझाना चाहते हैं। फिर मैंने आपके अहम् के रूप को पहचाना भी है तो केवल आपके व्यवहार और कार्य से ही। आपके मन में किसी सम्बन्ध का, किसी व्यक्ति का क्या रूप है, यह तो जानना बड़ा कठिन है।"

"हाँ, पर जाने बिना ही तो तुम्हें अपना फैसला नहीं दे देना चाहिए। कम-से-कम तुमसे तो मैं ऐसी आशा रखता ही हूँ।"

मेरा मन घोर निराशा से भर उठा। एक व्यक्ति, जिसको मैं इतना कम जानती हूँ, उसके भीतर क्या है, ठीक तरह से नहीं पहचानती; उसके विषय में अपना निर्णय कैसे दे दूँ।

पर उसकी हरकतें मुझे निर्णय देने को विवश करती हैं। क्या किसी तरह दिलीप खुलकर नहीं कह सकता कि वह क्या चाहता है। वह अपना क्या सम्बन्ध रखना चाहता है मुझसे ?

दिलीप, करुणा का पति, बेबी का पिता। वही दिलीप, जो राज से इतना मिलता है। वही राज, जो बचपन की मेरी प्रत्येक घटना के साथ सम्बन्धित है। राज ने केवल एक बार रहस्य मुझसे रखा था। केवल एक बार एक बात छिपाई थी। (जब उसने अपने पके खेत में आग लगवाई थी मुझसे। तब मैंने उसके कहने से पके लहलहाते खेत में आग भी लगा दी थी। वह रहस्य मुझको बाद में कुछ वर्ष हुए पता चला था कि वह अपने पिता को उस वर्ष की खेती में से कोई लाभ नहीं होने देना चाहता था।) राज, वही भावनाओं से भरा-भरा जीवन को प्यार करने वाला राज, जीवन में जो-कुछ अच्छा है, जो कुछ महत्त्व रखता है उसको पसन्द करता। ऐसे राज में भी अहम् बहुत है। वह अपने बराबर किसी को नहीं समझता।

मेरे होठों पर बात आई, पर रह गई। मैं कहना चाहती थी कि तुम्हारी यह उदासीनता ढोंग है दिलीप ! तुम जो यह मन में भावना लिये फिरते हो कि सारी दुनिया तुम्हें प्यार करे, वह धोखा है। तुम न्यूरोटिक हो। प्रत्येक न्यूरोटिक चाहता है कि

दूसरे लोग उसे प्यार करें। जहाँ कहीं वह देखे, दूसरे लोग वहाँ अपने स्नेह और आदर को बिछा दें।

मेरे होठों पर आया कि कह दूँ—'दिलीप, तुम्हारे व्यक्तित्व की जो यह मधुरता है, कोमलता है उस पर रुखाई की, कठोरता की मुहर लगी हुई है। तुम जो कुछ समझते हो वह तुम्हारे व्यक्तित्व से मूक है, वह सुन्दर है। यह सब झूठ है। धोखा है। तुम्हारे पास से भी यदि किसी की साड़ी का सरसराता आँचल निकल जाय, किसी विदेशी सुगन्ध से महकता हुआ आँचल, तो क्या तुम्हारे शरीर में सिहरन-सी नहीं होती।'

मैं यह नहीं कह सकी। यह तो मेरी पराजय है यदि मैं यह सब दिलीप से कह दूँ। (उसी दिलीप से, जो सैर करते समय पगडंडी पर आप आगे चलता है, और मुझे पीछे चलने के लिए कहता है। थरमस में से चाय उँडेलकर स्वयं पहले पीता है, मुझे बाद में देता है। दूसरों के साथ नाचते देखकर जिसे बुरा लगता है। भाटिया को चित्र देने पर जिसकी आँखों में खून उतर आता है।)

मेरे पैर की अँगुली को दिलीप ने जोर से दबाया। मैं चौंक पड़ी।

"आपको पैर नहीं छूना चाहिए।"

"क्यों, सुना है देवी-देवताओं के पैर छुए जाते हैं।"

दिलीप की आँखें हँस रहीं थीं।

"मैं आपको समझी नहीं।" मैं खीझ उठी थी। कमरे की खिड़की खुली हुई थी और हवा का ठंडा झोंका आया और मेरा मस्तिष्क शीतल हो गया। मेरी दृष्टि बाहर लगे सेव के वृक्ष को देखने लगी। लाल-लाल पके हुए सेव हवा से झूल-झूल कर

मानो एक ही गीत गा रहे थे—'पुरुष बहुत कुटिल है।' 'दिलीप को समझना मुश्किल है।'

"चलो सेव तोड़ें।" मैंने दिलीप से कहा।

"तुम पागल हो।" दिलीप ने उत्तर दिया, 'तुम सेव तोड़ो, मैं विअर पीऊँगा।"

"ओह, आप विअर भी पीते हैं!"

मुझे आश्चर्य हुआ।

"हाँ पीता हूँ।"

"जब ज़िन्दगी की कड़वाहट आपके गले से नहीं उतरती तो आप उससे बढ़कर कसैली बियर पी लेते हैं।"

"नहीं बिअर कसैली नहीं होती। तुम क्या जानो उसका स्वाद?"

"स्वाद का तो पता नहीं, उसकी रंगत बहुत सुन्दर होती है। जैसे सुनहरी-सुनहरी सोना पिघला हो।"

"रंगत की इतनी तारीफ। आज तुम भी पीकर देख लो।"

"आप बड़े बेशर्म हैं।"

मेरी हँसी निकल पड़ी थी।

("इसमें क्या सन्देह है। किसी विदेश गये हुए व्यक्ति की चीज़ पर अधिकार जमाने की चेष्टा कर रहा हूँ, जो कि मुझे नहीं करनी चाहिए।")

मुझे काटो तो खून नहीं। मुझे लगा, जैसे धरती फट गई है, और मैं उसमें समा गई हूँ। मेरा रंग पीला हो गया।

"आप जानते हैं?"

"हाँ! मैं सब जानता हूँ।" दिलीप ने धीरे से कहा।

मैंने दिलीप की ओर देखा। केवल आँख उठाकर। मुँह

से कुछ न कह सकी।

"मैं तुम्हें मिलने गया था। उसी रात जब पानी बरस रहा था। तुमने गाना सुनाया था। तुम कमरे में थीं। तुम्हारे ड्राइंग रूम में एक कापी पड़ी थी। उसीसे मैंने अनुमान लगा लिया था।"

मैं वहीं कुर्सी पर बैठी रह गई। दिलीप इतना कहकर उठ गया और बाहर चला गया।

# ग्यारह

मशोबरे के डाक-बँगले में आए हमें दो दिन हो चुके थे। इन दो दिनों में मुझे इस बात का ज्ञान हो गया कि दिलीप और मुझमें कितना व्यवधान है, मेरे और उसके बीच मर्यादाओं की ऐसी कितनी दीवारें हैं, जिनका तोड़ना न मुझसे हो सकता है, न उससे। मशोबरे में मेरे जीवन में एक नवीनता आ गई। दिलीप को राज के विषय में पता लग चुका था। उसने वह कापी देख ली थी जिसमें मैं राज को पत्र लिखा करती थी। राज के लिए मेरी यह आदत पुरानी है कि मैं पहले उसे पत्र कापी में लिखती हूँ, फिर उसकी नकल करके भेजती हूँ। राज को ही मैं केवल ऐसे पत्र लिखती हूँ। क्योंकि मेरे मन में यह भाव रहता है कि राज को यह पसन्द आयगा या नहीं। दिलीप ने वह पत्रों की कापी देखकर मेरा काम हल्का कर दिया। शायद मुझसे यह कभी भी न कहा जाता कि दिलीप, तुम्हारे-जैसा एक और व्यक्ति भी मेरे जीवन में आ चुका है। उसीको लेकर मैं अब तक सपने पालती रही हूँ।

सुबह दिलीप सेवों के पेड़ के नीचे खड़ा था। मैंने देखा, उसके बाल बिखर रहे थे। नींद का खुमार अभी भी उसकी

आँखों से उतरा नहीं था। वह अपने लम्बे ड्रेसिंग-गाउन में हाथ डाले सेव के पेड़ के नीचे खड़ा था। मैंने उसे वहाँ देखा। मन चाहा, 'मैं भी जाऊँ, और वहाँ जाकर उससे बातें करूँ', किन्तु लगा कि यह मेरी कोरी भावुकता है। करुणा भी तो खिड़की में से बाहर देख रही है। क्या करुणा का जी नहीं चाहता कि वह वहाँ जाय? करुणा भी तो यह देख रही है कि सूर्य की सुनहली नव-जात किरणें दिलीप के बिखरे बालों के साथ अठखेलियाँ कर रही हैं।

मर्यादा ने मेरी इच्छाओं का गला घोट दिया। दिलीप के बिखरे हुए बालों की तरह मेरी इच्छाएँ भी बिखर गईं। शायद इच्छाएँ उठती ही हैं, मिट जाने के लिए।

कभी-कभी जीवन की साधारण-सी घटना मुझे जीवन से अत्यन्त दूर ले जाती है। ऐसे पलों में मैं अपने अस्तित्व को जीवन से भिन्न देखने लगती हूँ। मेरा मस्तिष्क विचारों के घने कुहासे से भर जाता है।

मैं डाक-बँगले के बराण्डे में बैठी थी और दिलीप सामने सेव के वृक्षों के नीचे। करुणा कमरे में बच्ची के साथ व्यस्त थी। मैं अपने को और दिलीप को अपने अस्तित्व से अलग हटकर एक तीसरे की दृष्टि से देख रही थी। दिलीप अखबार में मुँह छिपाए बैठा है। अखबार के पीछे से वह छिपी-छिपी निगाह से मेरी ओर देख लेता है। शायद दिलीप का मन भी करता होगा कि मैं वहाँ उसके पास बैठूँ, पर मर्यादाएँ बीच में दीवार बनकर खड़ी हैं। दिलीप तो सामाजिक बन्धनों का अधिक विचार नहीं करता, यदि करता तो करुणा के पिता के घर वह क्यों नहीं जाता?

मुझे एक पुरानी घटना भी याद हो आई। काश्मीर में एक बार राज टैण्ट में न रहकर देवदारु और चील के जंगल में एक झोपड़ी में रहा था। झोंपड़ी एक ग्वाले की थी। उसके सामने एक सेव का पेड़ था, राज दिन-भर उस पेड़ के नीचे लेटा रहता, और पैरों से सेव उतारकर खाता रहता। एक बार वह उसी पेड़ पर चढ़ा भी था। जब मैं उससे मिलने गई थी तो उसने कहा था, 'सेव खाओगी?'

'हाँ', मैंने कहा था।

उसने पैरों से लेटे-ही-लेटे एक सेव तोड़कर मेरी ओर फेंक दिया था।

मैंने वह सेव खड्ड में फेंक दिया था।

राज का मुख लाल हो गया था। उसके अहम् को ठेस लगी थी। वह पेड़ पर चढ़ गया और वहाँ से उसने कुछ सेव तोड़कर नीचे फेंके। तब मैंने अपने दुपट्टे का आँचल फैला दिया था। सेव उसमें गिरते रहे थे। फिर राज पेड़ पर से उतर आया था। बहुत देर तक हमारी बातें होती रहीं और साथ में हम सेव खाते रहे थे। राज में जब-जब बाजीगरों-जैसी भावना काम करने लगती थी, तब-तब वह ऐसा व्यवहार करता। था।

आज दिलीप भी सेव के वृक्षों के नीचे खड़ा है, परन्तु वह बोल नहीं रहा। उसने मुझे बुलाया भी नहीं। राज होता तो

ऐसा न करता, यह मैं भी समझती हूँ। फिर भी मुझे दिलीप की यह बात अच्छी लग रही थी। उसका यह संकोच मेरे लिए नया था। मैं जरा नीचे होकर उसके पास जा सकती थी। परन्तु मैं गई नहीं। नीची होना, नत हो जाना शायद दिलीप को भी अच्छा न लगता। करुणा बच्ची को लेकर बाहर आ गई।

"अरे नीना, तुम यहाँ बैठी हो? बाहर चलो न!"

"चलिये।"

"आओ यहाँ सेब के वृक्ष के नीचे बैठकर चाय पियें। मुझे तो सुबह की नई धूप, दूर चमक रहे देवदारु के वृक्ष और फिर यह लाल-लाल सेब सब बहुत सुन्दर लग रहे हैं!"

"ओह, आज आप भी कविता करने लगी हैं।" मैंने ज़रा हँसी के स्वर में कह दिया।

करुणा भी हँस पड़ी।

हम लोग पेड़ के नीचे आ चुके थे। दिलीप ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों और लम्बी-लम्बी पलकों को ऊपर उठाकर मेरी ओर देखा। उसकी आँखों का भाव कह रहा था, 'तुम यहाँ आओगी, यह मैं जानता था।'

"सेब खाओगी नीना?" दिलीप पूछ रहा था।

मेरे शरीर में एक फरहरी-सी आ गई।

करुणा ने कहकहा लगाया।

मुझे लगा सेवों का पेड़ हिल गया है।

"नीना, 'हाँ' कह दो बहन, हमें भी मिल जायँगे तुम्हारी वजह से।"

"करुणा जीजी, आप हमेशा ऐसी ही बातें करती हैं कि

मुझे घबराहट होने लगती है ।"

करुणा इस पर भी खिलखिला पड़ी। उसका कहकहा इतना ऊँचा था कि डाक-बँगले के एक दूसरे कमरे में जो व्यक्ति ठहरा हुआ था वह बाहर निकल आया।

करुणा एकाएक बोली—"अरे नीना, मैं तो तुमसे यह पूछना भूल ही गई कि तुमने वह चित्र भाटिया को क्यों दे दिया, वह तो हमें देना चाहिए था।"

मैंने दिलीप की ओर देखा, दिलीप अपनी दृष्टि अखबार में गड़ाए उसी प्रकार बैठा था। मुझे जरा-सा दुःख हुआ।

'प्रशंसा की भूख क्यों है मेरे मन में?'

भाटिया साहब जरा-सी प्रशंसा कर रहे थे, उस पर मैंने वह चित्र उन्हें दे डाला। शायद प्रशंसा की भूल सभी में होती है।

"करुणा जीजी, वह तो कालिज का चित्र था, उसमें पीछे पहाड़ और उनकी चोटियाँ थीं, और कुछ न था। मैं आपको एक अच्छा-सा चित्र बनाये देती हूँ। क्यों न आप, बेबी, और चौधरी साहब सब मिलकर अपना चित्र बनवाते। इसी सेव के पेड़ के नीचे।"

करुणा ने स्नेह से मेरा हाथ पकड़ लिया।

"तुम कितनी अच्छी हो नीना, यह बहुत अच्छा रहेगा, क्यों आपका क्या विचार है?"

दिलीप ने फिर मेरी ओर देखा।

"बोलिये न, उत्तर दीजिए।" मैंने कहा।

उसी क्षण मैंने अनुभव किया, 'मैं यह सब क्यों कह गई हूँ।' परन्तु मुझे शायद अपने पर लज्जा आती। पर इतने में

केशव हमारी ओर आता दिखाई दिया। उसके हाथ में साइकिल थी और वह पसीने से तर था। उसकी कमीज़ बुरी तरह से भीग रही थी।

"तुम आ गए केशव, बस मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी, मैं कहीं गई भी नहीं, डाक-बँगले से बाहर भी नहीं निकली।" करुणा एक साँस में ही यह सब कह गई।

"क्यों, तुम्हारे साथ तो सब बहुत अच्छे हैं। चौधरी है, नीना है; फिर तुम घूमी क्यों नहीं ?"

करुणा हँस पड़ी।

"वाह केशव, यह भी खूब कही ! चौधरी तो जैसे हैं, तुम्हें पता है। अपने कमरे में बन्द रहते हैं। नीना को भी घंटों सोचने की आदत है। वह तो बराण्डे में कुर्सी डालकर बैठी रहती है।"

केशव ने कहकहा लगा दिया।

"तुम यह क्यों नहीं कहतीं कि यह दोनों कमरे के भीतर और बाहर बैठकर एक ही दिशा में सोचते रहते हैं।"

मुझे यह बात चुभ गई। केशव मन का हल्का है, यह मैं पहले भी अनुभव कर चुकी थी। केशव जब भी मुस्कराता तो सदैव उसके ओठों की सिकुड़न उसके मन के हल्केपन को प्रकट कर देती। मैंने तत्काल दिलीप की ओर देखा, उसका मुख क्रोध से तमतमा रहा था। वह अखबार में आँखें गड़ाए बैठा रहा।

करुणा ने दिलीप की ओर देखा और गम्भीर हो गई।

"इस बहस में क्यों पड़ते हो, चलो 'वाइल्ड फ़्लावर हॉल' आज पिकनिक के लिए चलें।" करुणा ने अपने भाई की ओर बड़ी दिलचस्पी से देखते हुए कहा।

"'वाइलड फ़्लावर हॉल' क्या चीज़ है ?" मैंने करुणा से पूछा।

"बहुत सुन्दर जगह है। यहाँ से अधिक दूर नहीं। सीधी सड़क से भी जा सकते हैं; पर पगडण्डी वाला रास्ता अच्छा रहेगा। वहाँ एक अच्छा-सा होटल है, उसके चारों ओर फूल-ही-फूल लगे हैं।"

होटल का नाम सुनते ही मुझे केशव के अस्तित्व का ध्यान हो आया।

केशव, होटल 'सेसिल', शराब, डान्स और तिस पर उसके ओठों की सिकुड़न, घृणित सिकुड़न। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगा।

"क्यों नीना, चुप क्यों हो गई। चलो न पिकनिक पर, बड़ा मजा रहेगा। आज केशव भी साथ होगा, ताश ले चलेंगे वहाँ खेलेंगे, ग्रामोफोन सुनेंगे, हँसी-मज़ाक रहेगा।"

'ताश, खेलेंगे। उहँ, वह भी केशव के साथ।' मेरा मन घृणा से भर गया। लगा जैसे बकाई आ जायगी।

"जीजी, मुझे माफ़ कर दो, मैं न जा सकूँगी। यह सेव बड़े अच्छे लग रहे हैं। इन्हींके नीचे बैठकर एक चित्र बनाऊँगी। फिर ताश तो मुझे खेलना भी नहीं आता।"

दिलीप ने अखबार से आँखें उठाईं और कहा—"मैं भी चलूँगा, 'वाइलड फ़्लावर हॉल'।"

करुणा की आँखों में चमक आ गई।

"अच्छा नीना, तुम चित्र बनाओ, हम तुम्हारा समय व्यर्थ में नहीं गवायँगे।"

"पिकनिक होगी तो अच्छी।" केशव ने उसी प्रकार ओठ

को एक बल देकर कहा, "मुझे बड़ा अफसोस होगा, पिकनिक का चार्म चला जायगा। नीना जी, आप चलतीं तो ठीक रहता।"

मैं चुप रही और कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

हम लोगों ने चाय पी। उसके बाद करुणा बच्ची को भी साथ लेकर, केशव और दिलीप के साथ पिकनिक पर चली गई। मैं सचमुच में ही रंगों का डिब्बा और तूलिका लेकर चित्र बनाने लगी।

चित्र बनाने के लिए अपनी सब मनोभावनाओं को एकत्रित करना पड़ता है। यहाँ मनोभावनाओं में तूफ़ान आ रहा था। मैं सोच रही थी, 'मुझे यहाँ मशोबरे में करुणा और दिलीप के साथ आना ही नहीं चाहिए था। आ गई तो साधारण व्यवहार क्यों न कर पाई। मैं यह कटी-कटी, दबी-सी क्यों हूँ। केवल इसलिए कि दिलीप राज से मिलता-जुलता है। राज से अधिक कोमल है। परन्तु जिसमें अहम् राज से अधिक है। उसी अहम् से पीड़ित होकर वह मुझे भी झुकाना चाहता है। मैं कभी न झुकूँगी। राज, मेरा राज है, दिलीप ......ओह, शायद दिलीप बिलकुल निजी राज है। राज को प्रकट कर सकती हूँ, दिलीप को नहीं।'

मुझे राज का यह वाक्य याद आ गया, 'नीना तुम भोली हो, सरल हो; पर तुम्हारा अहम् तुम्हें कभी-कभी झुकने से, कठिनाइयों से बचा लेगा। मुझे इसी बात की खुशी है। चाहे

कभी-कभी मैं इस अहम् से तंग आ जाता हूँ। यह अहम् तुम्हें सामान्य बन्धनों को न तोड़ने देगा।"

(तब मैंने इसका उत्तर नहीं दिया था। चुप रही थी। दिलीप भी चुप रहता है, कभी-कभी बोलता है। मैं उसकी चुप्पी को इतना महत्त्व क्यों देती हूँ। दिलीप मुझसे दूर है, परन्तु न जाने मैं जब उसकी आँखों में देखती हूँ तो लगता है कि वह दूर नहीं है। निकट है। निकट भी नहीं, मन की गहराइयों में उतर चुका है। मुख से कभी कुछ नहीं कहता, क्यों नहीं कहता? परन्तु मैं अनुभव तो करती हूँ। यह अनुभव कैसा अदृश्य है, कैसा सूक्ष्म है। मैंने देखा, सेव लाल हैं, पके रस से भरे, अभी घण्टा-भर पहले मैं इन्हें खा चुकी थी, इनका चित्र बनाकर राज के पास भेजूँगी।

राज को प्रसन्नता होगी···मैं अच्छे वातावरण में हूँ। राज के मन में आयगा तो वह भी यहाँ आ जायगा, यहाँ।

राज और दिलीप।

दिलीप की करुणा और बच्ची।

उफ़, यह दिलीप मुझे खींचकर कहाँ ले जायगा। मैं सब समाप्त कर दूँ।

दिलीप को पिस्तौल की एक गोली से समाप्त कर दूँ।

न दिलीप रहेगा, न यह दुःख उठाना पड़ेगा। क्या यह दुःख है? नहीं, यह एक भार है, पीड़ा है, पर मधुर-सी। पके सेव के इस रस-सी। इस मधुर भार को वहन करने में ही मुझे

लगता है कि मैं जीवित हूँ।

मैं अपने मन के इसी उतार-चढ़ाव के साथ बह रही थी कि दिलीप लौट आया।

"अरे, आप आ गए!"

"हाँ", उसकी आवाज में क्रोध और अहंकार दोनों का मिश्रण था।

मैंने दिलीप की ओर देखा, उसका मुँह तमतमा रहा था। मेरा साहस नहीं हुआ कि पूछूँ, 'क्या बात है?'

क्या जीवन में कभी ऐसा भी होता है कि जिसको महत्त्व देते हैं उसके सामने जबान न खुले। मैंने मन-ही-मन जितने भी उपन्यास पढ़े हुए थे उनको दुहराया। इस समय कौन-सी बात कहनी चाहिए, यही मैं सोचने लगी।

"कोयला लोगे बाबू?" एक कोयले वाली पूछ रही थी। उसकी आवाज से चौंककर मैंने उधर देखा। सिर पर कोयले का बोझ उठाए, पीठ पर टोकरी में भी कोयला लादे, वह कोयले वाली खड़ी थी। उसका हरा लिबास कोयले से जहाँ-तहाँ काला हो रहा था। परन्तु कोयले वाली का दूध-जैसा श्वेत रंग कोयले की कालिख के पीछे भी ऐसा चमक रहा था मानो बादलों के पीछे चाँद चमकता है। उसके कानों में चाँदी की मुर्कियाँ झूल रही थीं और गले में चाँदी का हार।

दिलीप उस कोयले वाली को देखने लगा।

कोयले वाली उस जंगली खरगोश की तरह लग रही थी जो गलती से किसी ऐसे बिल में से गुज़रा हो जहाँ काला-ही-काला है।

"बाबू······बाबू जी, कोयला लोगे?"

उसने मेरी ओर देखकर पुनः दिलीप से पूछा। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह कैसी स्त्री है, कोयले के विषय में मुझसे न पूछकर वह दिलीप से पूछती है।

"कोयले का हम क्या करेंगे, नहीं चाहिए।" दिलीप ने कठनाई से कहा।

मानो उसे यह बात कहते हुए तकलीफ हो रही थी।

"मेम साहब, तुम ले लो न कोयले!"

"मैं कोयलों का क्या करूंगी, मुझे नहीं चाहिएँ।"

उसने एक क्षण दिलीप की ओर देखा। एक कैंची की सिगरेट वाली डिब्बी में से एक सिगरेट निकाली, जलाई, और चली गई।

दिलीप के ओठ सट गए।

वह बहुत शीघ्र-ग्राही है, यह मैं जानती थी। किसी भी बात का उस पर गहरा असर हो सकता है।

दिलीप बोला—"यह भी औरत है। करुणा भी औरत है, तुम भी औरत हो। सब-की-सब एक-जैसी, स्वार्थी और नीच। तुम मेरी ओर इस निगाह से क्यों देख रही हो, मेरा निश्चय डाँवाडोल हो जायगा।"

"क्या निश्चय है आपका?" मैंने डरते-डरते पूछा।

अभी वह स्त्री जाति को गालियाँ दे रहा था, इस बात की मैंने परवाह नहीं की।

"आज शिमला लौट जाऊँगा", कहकर दिलीप ने सिगरेट जला ली।

"क्यों"

"मेरी इच्छा। मैं यहाँ डाक-बँगले में शिमला से दूर भी

शिमला वालों से घिरा नहीं रहना चाहता।"

"क्या मतलब है आपका, कहिये तो मैं चली जाऊँ ?"

"तुम्हें जाने के लिए कौन कहता है!"

"फिर।"

"मैं तो स्वयं ही जाना चाहता हूँ।"

"आप भी अजीब हैं! मैं पूछती हूँ, आखिर वह कौन-सी ऐसी बात है जिसके लिए आप यह डाक-बँगला छोड़कर शिमला जाना चाहते हैं। आप तो पिकनिक पर गये थे। लौट क्यों आए ?"

"तुम जानकर क्या करोगी ?"

दिलीप की वाणी में अपनापन था। मैं कृतार्थ हो गई।

"हाँ, यदि आप उचित समझें तो।"

"नीना, आज केशव के साथ मेरी लड़ाई हो गई।"

"क्यों ?"

"वह मुझे कह रहा था······।"

दिलीप चुप हो गया। उसने सिगरेट का एक लम्बा कश खींचा।

"क्या कह रहा था ?"

"यही कि मैं अच्छा आदमी नहीं हूँ, मुझे उसकी बहन ने सिर चढ़ाया हुआ है। यदि उसकी बहन के स्थान पर कोई और लड़की होती तो देखता मुझमें इतना साहस होता कि मैं कालिज की एक महिला-लेक्चरार को साथ लाता।"

मुझे लगा, जैसे मेरे हृदय की धड़कन बन्द हो जायगी।

"तो आपने क्या उत्तर दिया ?" मैंने साहस बटोरकर पूछ ही तो लिया।

"तुम बताओ, क्या उत्तर देता ?" दिलीप ने मेरी ओर देखते हुए पूछा।

"आप ही बतलाइये न !"

"तुम तो नाराज हो गईं।"

"आपसे ?" मेरी वाणी में आश्चर्य-मिश्रित उत्सुकता थी।

"तो बतलाओ न !"

"जो एक पुरुष को ऐसे समय उत्तर देना चाहिए।"

"क्या उसका भी एक स्टैण्डर्ड निर्धारित हो गया है ?"

"हाँ।"

"क्या ?"

"ऐसी बात कहने वाले के मुँह पर थप्पड़ जड़ देना चाहिए।"

दिलीप हँस पड़ा।

"काश ! मेरी जगह तुम होतीं।"

"यानी आपने उसे कोई उत्तर नहीं दिया।"

"दिया है। मैंने उससे कहा है कि उस-जैसे व्यक्ति के साथ बातें करना मेरी बेइज्जती है, वह अपनी बहन को लेकर पिकनिक पर चला जाय, मैं नहीं जाऊँगा।"

'करुणा ने इस विषय में क्या कहा', मैंने पूछना चाहा, परन्तु पूछ नहीं सकी।

कैसे कहूँ···'करुणा क्या कहती थी ?'

(उसके आध घंटे बाद हम दोनों मशोबरे से बस में लौट आए। रास्ते में दिलीप गम्भीर बैठा रहा। उसने मुझसे बात-चीत नहीं की। मैं स्वयं भी आत्म-ग्लानि से जल रही थी।)

दिलीप को मेरे लिए इतना नीचा होना पड़ा परन्तु करुणा भी तो उससे कुछ कह सकती थी। उसने दिलीप को रोक क्यों नहीं लिया ?

(हम दोनों में से किसी ने भी खाना नहीं खाया था। घर पहुँचकर मैंने देखा, मेरा नौकर ही घर पर नहीं है, रसोई में बाहर से ताला लगा है। वह वहाँ होता भी कैसे ? उसे तो यह पता न था कि मैं आज ही लौट आऊँगी। दिलीप अपने घर चला गया। मैंने अपने बैठने के कमरे की बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ खोल दीं। सूर्य की किरणें कमरे में आकर स्फूर्ति देने लगीं। मैंने मुँह-हाथ धोया। रसोई का भीतर से दरवाजा खुलता था। उसे खोलकर मैंने देखा, दो दिन से डबल रोटी और मक्खन भी ज्यों-का-त्यों रखा है। अनजाने ही मेरे हाथ फुर्ती से चलने लगे। डबल रोटी काटकर मैंने सलाईस बनाये, मक्खन लगाया। अकेली कैसे खाऊँगी। दिलीप भूखा बैठा होगा। दिलीप इतना सभ्य है कि लोग उसकी नम्रता और सौजन्य का अनुचित लाभ उठाते हैं। जिसके लम्बे इकहरे कद से सादगी और सुरुचि की झलक मिलती है। दिलीप अपने कमरे में चुपचाप आराम-कुर्सी पर बैठा होगा। कागज, किताबों इन्साइक्लोपीडिया और डिक्शनरियों से घिरा हुआ। दिलीप की लिखने वाली मेज के सामने, 'वेन गफ' की एक सुन्दर कृति लगी होगी। दिलीप अकेला बैठा सिगरेट-पर-सिगरेट फूँक रहा होगा।)

मैंने सलाईस खाने की मेज पर रख दिए, हीटर पर चाय के लिए पानी गरम रखा। क्या ही अच्छा हो कि दिलीप स्वयं ही यहाँ आ जाय। दिलीप दिलीप ही न रहे यदि स्वयं

यहाँ आ जाय। इतना मैं जानती थी। मैंने दिलीप को टेलीफोन किया। पहले तो मना करता रहा, फिर मान गया।

'तुम कहती ही हो, तो मैं आ रहा हूँ।'

हम दोनों ने चाय पी, डबल रोट खाई। खाते समय अधिक बात नहीं हुई। दिलीप का मुख अभी तक गम्भीर बना था। वह चाय का दूसरा प्याला धीरे-धीरे पी रहा था। उस समय मैंने उसकी ओर देखा कि शनैः-शनैः दिलीप के मुख पर तनाव कम होता जा रहा था। उसके पतले होंठ, जो क्रोध से सट गए थे, अब अलग-अलग हो रहे थे। दिलीप की आँखों में एक तारा-सा चमकने लगा था। यह तारा एक बार और भी मैंने देखा था, जिस दिन मैंने कालिज में पढ़ाना आरम्भ किया था।

दिलीप ने मेज पर पड़ा हुआ मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया।

"नीना, मुझे तुम्हारी बेचैनी, तुम्हारी चंचलता बहुत पसन्द है। जब मैं तुम्हारी ओर देखता हूँ तो लगता है गति मूर्तिमान हो उठी है। तुम्हारी यह परेशानी और बेचैनी। तुम्हारा हृदय कितना निष्कपट है। मैं तो कई बार हैरान हो जाता हूँ, तुम्हारी सरलता को देखकर।"

मैं क्या उत्तर देती। मेरा हाथ दिलीप के हाथ में ही था। उस समय मेरी कैसी दशा थी, यह तो वर्णन करना कठिन है। किन्तु मैं इतना अवश्य जानती हूँ कि मैं आत्म-विभोर हो उठी थी। नपे-तुले शब्द बोलने वाला दिलीप मुझसे यह कह रहा था। मैं काश्मीर में नहीं, शिमला में थी। मुझसे राज नहीं दिलीप बात कर रहा था।

मेरे हृदय की सबसे निचली तह, लगता था और हिचकोले

खाकर ऊपर को ओर उछलती आ रही है।

"नीना, मैं आज तक अपने को अकेला समझता आया हूँ और अनुभव करता हूँ कि मैं अकेला हूँ। करुणा मेरे पास बैठी होती है, तो भी मुझे लगता है कि मैं अकेला हूँ।...उस सामने वाले पहाड़ पर खड़े अकेले देवदारु के वृक्ष की तरह।"

मैंने गीले स्वर से पूछा—"आप जीवन से इतने निराश क्यों हो गए हैं ?"

दिलीप ने एक लम्बी साँस ली। मेरी आँखों के सामने जो बाल आ रहे थे उन्हें अपने हाथ से हटाया। उसकी आँख में अभी वह तारा चमक रहा था। दिलीप के स्पर्श से मुझे लग रहा था, जैसे वसन्त का मौसम हो, मखमली घास पर मैं लेटी हूँ, सुगन्धित मस्त हवाएँ आकर मेरी पलकों को थपकियाँ देकर सुला रही हैं और मैं एकाएक बीनसा देवी बन गई हूँ। और दिलीप जूपिटर।

"नीना, तुम पूछ रही हो, मैं अकेलापन क्यों महसूस करता हूँ। इसलिए कि यह अकेलेपन की भावना मेरे दिमाग पर छाई हुई है, उसे मैं कैसे दूर करूँ। इस भावना में मेरा साझीदार कोई नहीं। मैं लोगों से घिरा बैठा रहता हूँ, फिर भी मुझे लगता है, जैसे मेरे आस-पास कोई नहीं।"

मैंने दिलीप की आँखों में देखते हुए कहा—"इसीलिए आप मौन रहते हैं। कम बोलते हैं।"

"हाँ, यह भी एक कारण हो सकता है। मेरे स्वभाव में एक जिद है एक उजड्डपन है, उसीके सहारे मैं जीवित हूँ। मेरा कुछ होना या न होना अधिक महत्त्व नहीं रखता।"

मैं पूछना चाहती थी, 'क्या होना या न होना आपके लिए

महत्त्व नहीं रखता। मेरा यहाँ टेबिल पर आपके सामने बैठना या न बैठना भी महत्त्व नहीं रखता।' पर यह नहीं पूछा, शायद इसे ठेस लगती।

"क्या आप अपने जीवन में प्रेम की कमी अनुभव करते हैं।"

दिलीप ने धीरे से मेरे गाल पर एक चपत लगाया। मानो वह कह रहा हो, 'तुम ही ऐसी बात कह रही हो स्वयं जन्म-जन्म का प्रेम लुटाकर।'

"प्रेम की कमी अनुभव करना या न करना तो मैं कह नहीं सकता, परन्तु मेरा मतलब है कि नीना, तुम गलत मत समझना, यह मेरे दिमाग की उलझन है, मेरी अपनी उलझन। जो मुझे परेशान रखती है।"

राज ने भी एक बार यही बात कही थी। वह बहुत घबराया हुआ लग रहा था। तब मैंने पूछा था—'क्यों, दुनिया की समस्याओं से तुम इतने घबरा गए हो।'

"नीना, तुम पगली हो, मैं दुनिया की समस्याओं से नहीं घबराता. मैं तो अपने-आपसे घबराता हूँ। मेरे दिमाग की उलझन ही मेरी सबसे बड़ी उलझन है।"

दिलीप ने मेरा हाथ जोर से दबा दिया।

"नीना, क्या सोच रही हो, तुम जब चुप हो जाती हो, तो ऐसा लगता है जैसे बहती नदी शान्त हो जाय। यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता। तुम सदैव बोलती हुई ही मुझे अच्छी लगती हो!"

दिलीप मेरे इतने निकट है। मैं आज तक इसे क्यों न समझी।

"आप, आप भी कभी-कभी मन में आये तो बोलना पसन्द करते हैं, नहीं तो चुप रहते हैं। शायद आपका अहम् दीवार बनकर बीच में आ खड़ा होता है।"

दिलीप ने मेरी आँखों में देखते हुए कहा—"यह तो पानी की दीवार है नीना, तुम आज तक नहीं समझीं।"

मुझे लगा, जैसे मेरा सिर चक्कर खा रहा है। मेरा हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। मैंने अपना सिर मेज पर टिके दिलीप के हाथ पर रख दिया। वह देर तक उसे सहलाता रहा।

# बारह

पिछली रात मैं बहुत देर तक जागती रही। आकाश तारों से भरा था। बाहर बिखरी झोंपड़ियों में तथा दूर-दूर के पक्के मकानों में दीप जल रहे थे, मानो संसार-भर के जुगनू रूठकर यहीं टिमटिमाने के लिए आ गए हों। सुबह उठी तो वर्षा हो रही थी। मैं बिस्तर में लेटी-लेटी सोचती रही, 'आज करुणा को आ जाना चाहिए। कल दिलीप कितना भावुक हो रहा था, मैं भी समवेदना से दबी जा रही थी। आज करुणा न आई, तो ··तो। परन्तु तुम्हें भय किससे? दिलीप से नहीं। शायद अपने से।'

मैं लेटी-लेटी पिछली रात के स्वप्न के विषय में सोचने लगी। देर से सोई थी, परन्तु फिर भी मेरी नींद स्वप्नों से मुक्त न थी, स्वप्न में मैंने देखा था कि आगरा के ताजमहल में मैं और दिलीप खड़े हैं। आकाश में चाँदनी छिटक रही है, जैसे चमेली की वर्षा हो रही हो। ताजमहल के बाईं ओर कोई सितार बजा रहा था। ताज के सामने वाले फव्वारों से मोती झर रहे थे। उनके चारों ओर बिखरे पानी के हृदय

पर जल-परियाँ सितार के मधुर स्वरों की लय में नृत्य कर रही थीं।

मैं तन्मय होकर ताजमहल की ओर देख रही थी, दिलीप ने मेरे कन्धे झकझोरकर कहा था, 'नीना, यह आकाश से बरसती चाँदी और चाँदी के तारों से भरी हुई तुम्हारी यह श्वेत साड़ी, तुम्हारे बालों में लगी यह ताजे मोतियों की वेणी···।

मुझे लगा था मानो किसी ने मेरी पूरी शक्ति खींच ली है। मेरा सिर दिलीप के कन्धे पर झुक गया था।

'जीवन कितना सुन्दर है।' मैंने धीरे से कहा था।

दिलीप के हाथों ने मेरी पीठ को सहारा दिया हुआ था।

'नीना, क्या जीवन यहाँ खड़े-खड़े, इसी तरह ताजमहल को देखते हुए नहीं व्यतीत हो सकता।'

'क्यों नहीं दिलीप, जरूर हो सकता है। कहो तो हम दोनों यहीं समाप्त हो जायँ, इसी वक्त।'

'मुझे स्वीकार है नीना! यह लो, पिस्तौल मेरी जेब में है। पहले मुझ पर गोली चला दो। मैं तुम्हें अपनी आँखों के आगे मरता हुआ न देख सकूँगा।'

'आत्म-हत्या तो कायर करते हैं।' मैंने दिलीप की ओर मुँह कर के कहा था।

'यह सब उपन्यासों में लिखने की बातें हैं नीना, मरना बड़ा मुश्किल है। मैं तो शायद कोशिश करके भी न मर सकूँगी। तुम चलाओ गोली। चला सकती हो?'

'गोली चला सकती हूँ, तुम सोचोगे मेरा प्यार विचित्र है, नहीं-नहीं दिलीप, अभी रात और बाकी है। ऊषा की

सिन्दूरी माँग देखते ही गोली दाग़ दूँगी, अभी यह अमूल्य क्षण मैं व्यर्थ नहीं खोना चाहती।'

दिलीप ने मेरे हाथ में पिस्तौल थमा दी। किन्तु पिस्तौल मेरे हाथ से छूट गई। और मेरी नींद खुल गई। सुबह हो गई थी, वर्षा हो रही थी, वह धमाका पिस्तौल गिरने का मेरी कल्पना में नहीं हुआ था, धमाका बिजली कड़कने से हुआ था।

'क्या दिलीप को यह स्वप्न वाली बात मैं बतला सकती हूँ ? ओह लज्जा आ जायगी।'

इस सुनहले स्वप्न का नशा अभी उतरा नहीं था। मैं अलसाई-सी खिड़की में से बाहर देखने लगी। सड़कों पर काम करने वाले तिब्बत के कुली भीगते हुए पहाड़ों पर से नीचे उतर रहे थे। उनकी टोपियों पर जमा हुआ मैल मुझे दूरसे ही दिखलाई दे रहा था। मैं सोचने लगी थी, 'इनके बालों से अवश्य सडाँद आती होगी। इनकी झोंपड़ियों की छतें चीर की लकड़ी के धुएँ से काली हो गई होंगी। इनकी झोंपड़ियों का फर्श कच्चा होगा। जो आज की-सी वर्षा में सील जाता होगा।'

'क्या इन कुलियों की पत्नियाँ नहीं होतीं ? शायद होती हैं। इनकी प्रेयसियाँ भी होती होंगी; इनको शायद कोई दिमागी उलझन न होती होगी। वही उलझन, जिससे दिलीप पीड़ित है, राज पीड़ित है। पेट की उलझन के आगे सब समाप्त है।'

"नीना, ओ नीना !" यह स्वर करुणा का था। मेरा हृदय धौंकनी की तरह धड़कने लगा। मानो करुणा मुझे दोषी ठहराने के लिए आ रही हो।

"करुणा जीजी, यहाँ आ जाओ न !" मैंने डरते-डरते कहा।

"ओह अभी तक बिस्तर से नहीं उठीं, रानीजी ?"

करुणा के स्वर में हल्का-सा तिरस्कार था।

"आप कब आईं जीजी !" मैंने यह भी पूछ लिया।

करुणा हँस पड़ी। उसकी हँसी मुझे व्यंगपूर्ण लगी।

"तुम लोग तो चोरों की तरह भागे। अरे आना ही था, तो बता तो देते।"

मुझे काटो तो खून नहीं, जैसे किसी मशीन का गलत स्विच दबा देने से गड़गड़ाहट होती है, मेरे सिर में भी वैसा ही कुछ होने लगा।

"असल में बात यह है जीजी, चौधरी साहब कुछ गुस्से में आए और कहने लगे, 'शिमला जा रहा हूँ इसी समय, तुम्हें चलना हो तो चलो।' मैंने सोचा, तुम 'वाइलड फ्लावर हॉल' बड़ी चाह से गई हो, इतनी जल्दी तो लौटोगी नहीं, शायद दो-एक दिन रहो भी, मैं क्यों न शिमला लौट जाऊँ।"

करुणा ने अविश्वास-भरी दृष्टि से मुझे देखा।

"आप कब आईं।"

"कल रात।" वह जरा लापरवाही से बोलीं।

"जीजी, एक बात पूछूँ ?" मैंने बातचीत जारी रखने के लिए कहा।

(करुणा ने मेरी ओर हल्के क्रोध से भरी दृष्टि से देखा। मुझे लगा, शायद यह कुछ भला-बुरा कहने या लड़ने आई है। परन्तु मुझे इतमीनान से लेटा देखकर उसका क्रोध जरा हल्का हो गया। दिलीप-जैसे पति पर अविश्वास।)

दिलीप में बहुत संयम हैं, अहम् का रंग है। 'यह तो पानी की दीवार है नीना।' कितना अच्छा है दिलीप, कितना कोमल परन्तु अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ ........वज्र की तरह कठोर।

"क्या पूछ रही हो," करुणा ने कहा।

"कल चौधरी साहब तो आपके साथ पिकनिक पर गए थे, फिर इतनी जल्दी लौट कैसे आए ?"

करुणा ने पुनः मेरे मुख को देखा, "क्या, तुम्हें सचमुच ही पता नहीं कि वह क्यों लौट आए थे।"

"नहीं जीजी, पता होता तो मैं आपसे क्यों पूछती !"

कैसी सफाई से मैं छल रही थी करुणा को। बेचारी करुणा, मेरे हृदय में उसके लिए सहानुभूति उमड़ रही थी। नारी नारी को छल सकती है। पुरुष छलता है तो नारी को उसकी बू फौरन मिल जाती है।

"कुछ नहीं नीना, तुम तो उनकी आदत जानती हो, ज़रा-सा मखौल भी नहीं सहते। मज़ाक-ही-मज़ाक में केशव ने कुछ कह दिया। यह बुरा मान गए और फौरन लौट आए, यहाँ तक कि मशोबरे में ठहरे भी नहीं, शिमला आ गए। साथ में तुम्हें भी ले आए।"

करुणा की आँखों में आँसू आ गए। केशव करुणा का भाई है, उसके विषय में वह और क्या कहती। मैं भी बिस्तर से उठकर बैठ गई। सोचने लगी, 'यदि मैं करुणा के स्थान पर होती, तो मैं क्या करती ?'

तभी करुणा कहने लगी, "नीना, तुम तो स्त्री हो समझ सकती हो, कितनी चोट लगती है जब भाई-बहनें ऐसी बातें कहते हैं।"

मैंने करुणा का हाथ पकड़ लिया। मुझे लगा, सारा अपराध मेरा ही है। मैं यहाँ न आती तो दिलीप भी शायद मशोबरे न जाता, जीवन में हम कुछ ऐसे व्यक्तियों से मिलते हैं जो हमारे हरे-भरे जीवन में आग लगा देते हैं, किन्तु दिलीप और करुणा में मानसिक समझौता शायद पहले भी न था। यह तर्क मेरा दोष हल्का नहीं कर देगा।

"करुणा जीजी, बुरा मत मानियेगा। पर एक बात मैं अवश्य कहूँगी। चौधरी साहब चाहे जैसे भी हों, आपके अपने हैं, आपको अपने भाइयों से इनकी बात नहीं कहनी चाहिए।"

करुणा को शायद मेरी बात अच्छी नहीं लगी।

"देख लूँगी महारानी जी, जब आपका ब्याह होगा तब यदि मियाँ से न बनी तो तुम अपने भाइयों से कहती हो या नहीं।"

"करुणा जीजी, हृदय में दो भाग होते हैं न दायाँ और बायाँ, मैं तो कभी उन दो भागों से भी नहीं कहती कि दूसरे भाग में क्या हो रहा है।"

करुणा ने मेरी बात की ओर ध्यान दिया या नहीं, परन्तु वह हँसने लगी। शायद जो मन में संशय लेकर आई थी वह घुल गया था। मेरा अपराधी मन मुझे दोष दे रहा था। मैंने अवचेतन की किसी सूक्ष्म प्रेरणा द्वारा प्रभावित होकर अपने सूटकेस में से राज का चित्र निकाला।

"करुणा जीजी, मैं आपको एक ऐसे व्यक्ति का चित्र दिखाने जा रही हूँ, जिसका मेरे जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव है।"

करुणा की आँखों में खोई चमक लौट आई। कुम्हलाए

हुए चेहरे पर मुख-श्री पुनः विराजमान हो गई। करुणा ने चित्र ध्यान से देखा, उसके पीछे लिखा था—'प्रेम सहित तुम्हारा राज," तारीख तब से दो वर्ष पहले की थी।

"तो यह है वह !" करुणा ने हँसते हुए पूछा।

मैंने केवल आँखों से 'हाँ' कह दिया। करुणा मुझसे लिपट गई।

"तुम कितनी अच्छी हो नीना !"

"क्यों जीजी !"

"मैं केशव का मुँह बन्द कर दूँगी, तुम जल्दी बतलाओ यह कहाँ है, क्या करता है ?"

मैंने अपने अपराध की गुरुता को कम करने के लिए करुणा के हृदय से अपने प्रति उत्पन्न हुए संशय को दूर करने के लिए बता दिया, "राज मेरे बचपन का साथी है। आज-कल विदेश गया है, शीघ्र ही लौट आयगा।"

करुणा चित्र लेकर चली गई और जाने से पहले वचन देती गई कि वह दिलीप को नहीं दिखलायगी, केवल केशव को दिखलायगी। उस केशव को, जो उसके पति को बदनाम करता है, नीना से उसका सम्बन्ध जोड़ता है।

नीना से दिलीप का सम्बन्ध।

आत्मा से आत्मा का सम्बन्ध।

एक भाव का समभाव से सम्बन्ध।

यानी पानी और दूध, चाँद और चाँदनी का सम्बन्ध कभी टूट सकता है। पानी-पानी में मिल जाता है।

'राज की तस्वीर को ही नहीं' राज को भी करुणा केशव को दिखला सकती है। उससे क्या होगा ? केशव का मुँह बन्द

हो जायगा। परन्तु दिलीप को मेरे हृदय से कौन निकालेगा ?'

मेरे मन में लगा, जैसे कोइ ऐसी बड़ी पक्की-सी गाँठ बन गई है। जो किसी भी औजार से नहीं काटी जा सकती, जैसे पानी की दीवार। यह भौतिक सम्बन्ध दिलीप और नीना का कभी नहीं हो सकता। करुणा, बेबी, राज, समाज और मेरे अपने संस्कार। काश, मैं दिलीप को पहले मिली होती। तो क्या हो जाता।

मैंने खिड़की में से बाहर देखा, आकाश पर मेघों की छत छाई हुई थी।

मैंने एक छोटी-सी बात बतलाकर करुणा के मन के बादल साफ कर दिए हैं। छोटी-सी बात ने मन के गूढ़ रहस्य, निजी रहस्य के चारों ओर सुरक्षा की दीवारें खड़ी कर दी हैं। दिलीप, जैसे मेरी आत्मा का अंश हो। नहीं, बिलकुल मैं होऊँ। दिलीप का अहम् कितना प्यारा है मुझे ?

एक तरफ मेरे मन का भार हल्का हो गया था, दूसरी ओर मुझे लगा, उन उलझनों और गुत्थियों को सुलझाने का केवल एक इलाज है कि मैं यहाँ से नौकरी छोड़कर चली जाऊँ।

इसी झोंक में आकर मैंने बहुत-से अखबारों में नौकरियाँ भी देख डालीं। मन-ही-मन सोचती रही, यह छोड़कर चली जाऊँगी, देवदारुओं और पगडंडियों का मोह। दिलीप के पास रहने का मोह, सब छोड़ सकती हूँ। क्यों न गोपाल स्कूल ऑफ आर्ट्स में एक बार और पत्र लिखकर पता ले लूँ।

इसी उधेड़बुन में मैंने राज को पत्र लिखा—

"प्रिय राज,

आज बहुत दिनों के बाद तुम्हें पत्र लिख रही

हूँ। मैं मशोबरा चली गई थी, शिमला से सात-आठ मील दूर एक छोटा-सा सबर्ब है। वह शिमला से बस और मोटर द्वारा मिला हुआ है। वहाँ डाक-बँगले में रही थी। बहुत सुन्दर जगह थी राज। वह डाक-बँगला बड़े अच्छे स्थान पर बना हुआ था। वहाँ से देखने से दूर-दूर पहाड़ और पहाड़ों के पाँव में चट्टानें, यों लगता जैसे एक दूसरे से रेस कर रहे हैं।

आजकल शिमला में सेव खूब पक रहे हैं। डाक-बँगले में भी एक सेव का पेड़ था। लाल-लाल पके सेव लगे थे। भाग्य से शिमला से विलायत तक यदि हवाई जहाज का प्रबन्ध होता तो शायद मैं तुम्हें सेव भेजती। सोचा है, एक चित्र बनाकर जल्द भेजूँगी।

राज, यह पहाड़ सुन्दर हैं, तुम तो जानते हो पहाड़ों से मुझे बड़ा प्रेम रहा है। परन्तु एक बात है, आजकल मेरा जी घबराने लगा है। जी चाहता है कि दिल्ली लौट जाऊँ और फिर से वहाँ के स्कूल में पढ़ाना शुरू कर दूँ।

एक कहानी सुनाऊँ तुम्हें! एक लड़की नदी के किनारे-किनारे चल रही थी। नदी में तूफान आ गया, पानी किनारे तोड़कर बाहर बहने लगा। पानी उस लड़की के पैर को भी छू गया, वह तूफानी नदी के बीच थरथराती खड़ी रही, खड़ी रही। उसने सोचा वह और दूर हट जाय, नदी का तूफानी पानी किनारों को दूर छोड़कर बाहर जो बिखर गया था, यानी नदी ने अपनी लपेट में दूर जाने वाली लड़की को भी ले लिया।

तुम शायद सहानुभूति जतलाओगे लड़की के साथ। कहो, बेचारी। यदि मैं उस लड़की की जगह पर होऊँ तो त्योरी चढ़ा कर कहूँ, कि तुम सहानुभूति नहीं जतला सकते, तूफानी पानी

में भी मेरे पैर उखड़ते नहीं हैं।

क्या हुआ यदि तूफान की लहरें मुझसे छू जाती हैं। लहरों की छाती को छूती हुई हवा मेरे कपड़ों में एक हल्की-सी सरसराहट पैदा कर देती है। मैं तो अविचल खड़ी हूँ, बचने की आतुरता नहीं, डूबने की व्याकुलता नहीं।

बस, राज मेरी कहानी समाप्त हो गई है।

कहो, तुम कैसे हो, कब आ रहे हो, मुझे लगता है, मेरा दिल फिल्म की रील की तरह चलता रहता है और दिमाग साथ में कमैण्टरी करता है। मैंने मन-ही-मन बहुत-से ऐसे चित्र देखे हैं, जिनको रेखाओं में रंगों द्वारा चित्रित करूँगी। अच्छा राज, बस।

—तुम्हारी, नीना।

# तेरह

चार छुट्टियों के बाद कालिज खुला। लड़कियाँ नये उत्साह से आई थीं। कालिज बन्द होने से पहले तो वार्षिक उत्सव होकर चुका था, उसके विषय में छुट्टियों की वजह से कुछ चर्चा न हो पाई थी। छुट्टियों के बाद मैंने देखा कि चारों ओर बड़ी चहल-पहल है।

छात्राएँ मेरे बनाए हुए चित्र की प्रशंसा कर रही थीं, कालिज-लॉन में लगे फूल हँस रहे थे। लड़कियों के कहकहे दूर पहाड़ों तक पहुँच रहे थे। पहाड़ शायद उन कहकहों से गूँज रहे थे। कालिज के पिछली ओर वाला पहाड़ आज ऊँचा लग रहा था, उसकी सबसे ऊपर वाली चोटी पर बर्फ पड़ चुकी थी। दूर से ऐसा लग रहा था, मानो कोई राजकुमारी ताज पहने खड़ी है।

सुबह मैं घूमने निकल गई थी, वहीं प्रेमियों की गली में, जहाँ दिलीप एक बार मुझे ले गया था। वहीं पर हरी बैंच पर मैं कितनी ही देर बैठी अपनी मानसिक अवस्था के विषय में सोचती रही थी। दिलीप की आँखें राज की आँखों से

मिलती हैं। दिलीप बहुत बार बातें भी राज की-सी करता है। दिलीप राज से बहुत-सी बातों में अच्छा है, मेरे मन में उसके लिए स्थान है, तो उसका यह अर्थ नहीं, कि मैं शिमला छोड़कर भागूँ, यह तो मेरे लिए प्रेरणा का विषय होना चाहिए, पलायन का नहीं।

राज के साथ मैंने शपथ ली थी, 'जहाँ भी अन्धकार देखूँगी, गाँव में, या पहाड़ पर अशिक्षा देखूँगी, अन्ध-विश्वास देखूँगी, वहीं अपना कर्तव्य समझकर इन सबको दूर करने का प्रयत्न करूँगी।' और तब राज ने एक कहकहा लगा दिया था।

"नीना, देखो तुम भी इस शपथ को ऐसे मत पूरा करना जैसे आम तौर पर तुम्हारे वर्ग की लड़कियाँ ऐसी शपथें पूरी किया करती हैं।"

"मैं समझी नहीं राज!" मैंने राज से डरते हुए कहा था।

"तुम क्या समझोगी। मेरा मतलब सिर्फ यह है कि तुम अपनी खिड़की पर लगे रेशमी पर्दे को पकड़कर, सड़क पर जाते हुए मजदूरों के कुछ के कच्चे और बोझिल कदम न लेना, कुछ उनको सीधा करने का प्रयत्न भी करना। आराम से गद्देदार सोफे पर बैठकर सुन्दर प्याले में से चाय की चुस्की लेते हुए, नारी-जागृति और अशिक्षा आन्दोलन पर विचार-विमर्श न करना, कुछ लोगों को अक्षर-ज्ञान भी करा देना।"

मैंने राज की ओर उस समय ऐसे देखा था, मानो वह कोरी बकवास कर रहा है। मैं अवश्य कुछ करके दिखला दूँगी।

परन्तु अभी तक वह कुछ करने का अवसर न आया था। मैं वैसी-की-वैसी जीवन में चल रही थी।

उसी हरी बैंच पर बैठकर मैंने यह सोचा, 'यहाँ से पलायन किस लिए? दिलीप की स्वप्निल आँखें अच्छी हैं, इसमें किसी का क्या दोष? किसी को उसमें अपने जीवन के कर्तव्य नहीं भुला देने चाहिएँ।

मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया, पहाड़ की इन्हीं चोटियों में से एक पर चढ़कर मैं पहाड़ियों को ललकारूँगी, अन्ध विश्वासी, मूढ़ पहाड़ियों के मन में जाग्रति की आग भड़का दूँगी। पहाड़ी स्त्रियों को, जो अफीम खाती हैं, चुरुट पीती हैं, और पुरुषों से बीड़ी छीनने तक में भी झिझकती नहीं, संस्कृति के दर्शन करवा दूँगी।

यह सब मैं सोच रही थी कि स्टाफ-रूम में दिलीप का चपरासी मुझे बुलाने आया।

"चौधरी साहब बुलाते हैं।"

बात साधारण थी, पर मेरा हृदय धक् करके रह गया। दो मास पहले भी मैं जिस दिन पहली बार कालिज आई थी तो चपरासी ने कहा था, 'चौधरी साहब बुलाते हैं।'

मैं दिलीप के कमरे में गई। वह कुछ उदास और खोया-सा लग रहा था।

"आओ बैठो नीना, कॉफी पियोगी क्या ?"

मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही उसने दो कप कॉफी लाने का आर्डर दे दिया। उस दिन काफी पिलाई थी, आज फिर पिला रहा है।

मैंने उसकी ओर देखा, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें उदास थीं। दिलीप मौन था।

"मुझे देरी तो नहीं हुई आने में।"

"जिन्दगी बहुत छोटी है नीना! यहाँ किसी को देर नहीं हो सकती। बहुत कम समय होता है।"

"आज आप कैसी बातें कर रहे हैं?"

"मैं बातें बहुत कम करता हूँ, जब करता हूँ तो वही, जो अनुभव करता हूँ। आज शायद तुम लवर्स लेन में सैर करने गई थीं।"

"हाँ, वह बड़ी एकान्त जगह है।"

दिलीप क्षण-भर मेरी ओर देखता रहा।

"एकान्त में जाना तुम्हें अच्छा लगता है।"

"हाँ कभी-कभी एकान्त में अपना मन टटोल लेना बुरा नहीं होता। अपने भूले हुए कर्तव्यों को दुहराना।"

दिलीप केवल मुस्कुरा दिया। कॉफी आ गई और हम दोनों पीने लगे।

"नीना, जब किसी वस्तु की आश लगाकर हम बैठे हों, तब वह हमारी कल्पनानुसार न होकर दूसरी तरह भी हो जाय, तो हमें क्या करना चाहिए।"

मैंने दिलीप की ओर गम्भीरता से देखा। 'क्या मैंने चाहा था दिलीप कि तुम जबरदस्ती मेरे मन में घुस जाओ?'

"कल्पना के महल तो रेत के महल होते हैं। जो हम दिल-बहलावे के लिए बनाकर रखते हैं। वह पक्के और स्थायी निकलेंगे ऐसा सोचना हमारी भूल है।"

दिलीप मेरी ओर देखता रहा और कॉफी पीता रहा। उसने एक सिगरेट भी जला ली।

स्त्रियों का दृष्टिकोण सदैव कर्ममय होता है। पुरुष काल्पनिक होते हैं।

"नहीं यह तो आप नहीं कह सकते कि स्त्रियों में कल्पना होती ही नहीं। स्त्रियाँ अधिकतर पुरुषों से अधिक कल्पना के जगत् में रहने वाली होती हैं। पुरुष समाज में परिवार का वाहक है। इसलिए उसे वास्तविकता से अधिक परिचय होता है।"

दिलीप पुन: मुस्करा दिया—"नीना तुमने कभी प्लेटफार्म पर खड़े होकर भाषण भी दिया है?"

मैं फिर हँस पड़ी।

"हाँ, कालिज के जमाने में दिया करती थी।"

"अब फिर शुरू कर दो। सफलता की आशा अभी भी की जा सकती है।"

मैं हँस पड़ी।

"नीना, तुम हँसती अच्छा हो।"

"वह पुरानी बात है, आप पहले भी कह चुके हैं। कोई नई बात कहिये!"

दिलीप गम्भीर हो गया और सिगरेट का एक और कश खींचकर बोला—"नई बात। भाटिया का टेलीफोन आया है कि कालिज के प्रिन्सिपल की नियुक्ति हो गई है।"

"आप नियुक्त हो गए हैं ?"

"नहीं नीना, कोई और।"

दिलीप चुप हो गया। उसकी आँखें ग़मगीन हो गईं।

मुझे बड़ा बुरा लगा। ओह, दिलीप को कितना बुरा लगा रहा होगा। दिलीप का अहम्। वह कैसे सहन करेगा।

"आप चिन्ता क्यों करते हैं। आप यहाँ नहीं तो किसी और कालिज के प्रिन्सिपल हो जायँगे। मैं जानती हूँ। ऐसी बात बुरी अवश्य लगती है।"

दिलीप कुर्सी से उठकर खिड़की के पास चला गया। उसी खिड़की के पास, जहाँ मैंने उसे पहले-पहल खड़ा हुआ देखा था।

"काश, मुझमें मरने की हिम्मत होती।"

मुझे अपना स्वप्न याद आ गया। वही ताजमहल वाला स्वप्न, आप इतने निराश क्यों हो रहे हैं। और मरते कायर हैं। मैंने तो जान-बूझकर कहा। मैं अपने स्वप्न की बात देखना चाहती थी।

"नहीं नीना, यह तो पुस्तकों में लिखा-पढ़ा होगा तुमने, कायर नहीं मरते। केवल वीर ही मरते हैं। मरना आसान नहीं।"

यह स्वप्न वाली बात है। मेरा हृदय धड़कने लगा। और मेरे माथे पर पसीने की बूँदें आ गईं।

"आपको मरने की आवश्यकता नहीं। जब होगी, मुझसे कहियेगा, मैं गोली से आपको मार दूँगी।"

"सच, नीना!" दिलीप की आँखों में तारा चमक रहा था।

"हाँ, सच, मैं आपको मार भी सकती हूँ।"

दिलीप ने मेरी आँखों में गहराई के साथ देखा।

"मुझे विश्वास है तुम्हारी इस बात पर।"

"मैंने सदा देखा है, तुम्हारी भावनाओं में तीव्रता है, वेग है।"

"तीव्रता और वेग ही जीवन है चौधरी साहब!"

"अपना वायदा भूल न जाना।"

"नहीं।"

दिलीप ने हाथ बढ़ाया, मैंने भी अपना हाथ बढ़ा दिया।

# चौदह

दूसरे दिन दिलीप चला गया। उसका टेलीफोन मोटर के अड्डे से आया था।

मैं इसके आगे नहीं जानती, क्या होगा। दिलीप दूर चला गया है। करुणा अभी यहीं है। मैं भी यहीं हूँ।

दिलीप चला गया।

अभी फिर टेलीफोन की घंटी बजी थी। मैंने टेलीफोन सुना था, यह टेलीफोन राज का था। राज मोटर के अड्डे पर पहुँच गया है। उसने आते ही टेलीफोन किया।

"नीना, मैं राज बोल रहा हूँ।"

मुझे कानों पर विश्वास नहीं हुआ। लगा कोई स्वप्न देख रही हूँ।

"नीना, नीना सुन रही हो।" राज टेलीफ़ोन पर चिल्ला रहा था।

"हाँ सुन रही हूँ। तुम राज, ओह, कब आए?"

अभी मोटर के अड्डे से बोल रहा हूँ। सोचा था, तुम्हें चौंका दूँगा। नीना, क्या तुम्हें पता है कि मैं तुम्हारे कालिज

का प्रिन्सिपल नियुक्त होकर आया हूँ। अच्छा, मैं जल्दी घर पहुँच रहा हूँ चाय तैयार करवा लो।"

राज ने टेलीफोन रख दिया।

राज कालिज का प्रिन्सिपल बनकर आ गया है।

दिलीप चला गया।

---